HINDI PROSE SELECTIONS

For Classes IX and X of High Schools in the United Provinces

COMPILED AND EDITED
BY
SYAM SUNDAR DAS, B.A.
President, Nagri Pracharini Sabha,
Professor of Hindi, Hindu University
Benares.

ALLAHABAD:
THE INDIAN PRESS, LIMITED
1929

कर्त्ता - ने (Nominative Case)
कर्म - को (Objective ")
करण - से
सम्प्रदान - को, के लिये
अपादान - से (अलहदा) [illegible]
अधिकरण - में, पै, पर
सम्बन्ध - का, की, के, रा, री, रे
सम्बोधन - हे, हो, है, अरे (Interjection)

समास

द्वन्द - और शब्द का लोप हो।
जैसे राम सीता वन कोगये।
द्विगु -
कर्मधारय - पहला पद Numeral Adjective हो जैसे त्रिलोक
बहुब्रीहि - जैसे गजानन, लंबोदर।
अव्ययीभाव - पहला पद अव्यय, जैसे प्रतिदिन
तत्पुरुष - का का लोप हो, जैसे राजपुत्र

संज्ञा

जातिवाचक (common noun)
व्यक्तिवाचक (Proper noun)
भाववाचक (Abstract noun)
गुणवाचक (Adjective + noun)
सर्वनाम (Pronoun)

क्रिया

अकर्मक (Intransitive)
सकर्मक (Transitive)

अव्यय

विस्मयादि सूचक (Interjection)
क्रिया विशेषण (Adverb)
विशेषण (Adjective)

HINDI PROSE SELECTIONS

FOR

High School Classes of the United Provinces.

Compiled and edited by

SYAM SUNDAR DAS, B.A.

THE INDIAN PRESS, LTD.,
ALLAHABAD.

1929.

हिंदी गद्य-संग्रह

संयुक्त प्रदेश के हाई स्कूल-क्लासों के निमित्त

राय साहब श्यामसुंदरदास, बी० ए०
ने
संकलित तथा संपादित किया

१९२१

मूल्य १)

FOREWORD.

THIS compilation has been prepared for the High School classes of the Anglo-Vernacular schools of the United Provinces. It consists of 19 selections from the writings of prominent writers of Hindi Prose, providing a wide range of subjects in various styles. The pieces have been selected with the object of stimulating thought, creating interest in Hindi Prose Literature and supplying models of style, as well as a variety of subjects. Another object which has been kept in view is to place such pieces in the hands of the students of High School classes in the United Provinces as may provide useful and adequate preparation for the higher, critical and scientific study of Hindi Language and Literature in the college classes. But much will depend, as it has always depended, on the methods which are adopted in teaching these lessons. Old antiquated methods of telling only the meanings of words and explanation of phrases, which are unfortunately still in vogue in most of the High Schools of these provinces, will not do now, if Hindi Literature is to continue to occupy the position which has been given to it in colleges and universities during recent years. What is wanted is to stimulate a critical spirit among the students of Hindi by drawing their attention to the beauties of style and phraseology, to the construction of sentences and to the spirit of the writer as expressed by his thoughts and the manner in which he has given expression to them. At the same time adequate stress should be laid on imbibing a spirit of critical appreciation of words and thoughts. Intelligent and modern methods of teaching will go a long way towards raising the standard of teaching Hindi Language and Literature and providing necessary preparation for higher studies in them or intelligent appreciation of Hindi Prose works by private and independent study.

The one great weakness which has been observed among the candidates for the High School Examination is a deplorable lack of the power of expression and weak and faulty composition. Constant practice and intelligent guidance will undoubtedly prove of great value. The easiest way to make a beginning in the High School classes is to select suitable sentences from the tex-book and to ask the students to expand the thoughts embodied in them in their own language. This will not only give them the desired practice in composition, but will also stimulate the power of thinking for themselves Little attention is paid at the present time to reading and dictation, which explains to a large degree the want of interest and appreciation among the students of what they read. To those teachers who are engaged in the noble task of teaching Hindi, I would suggest to consult my book 'Anulekha Mala,' published by the Newal Kishore Press, Lucknow, which, it is hoped, will prove of some help in adopting the right method of teaching both reading and dictation. A great and born teacher will no doubt evolve a suitable method of teaching Hindi in his own way, but I think what I have given there will prove of some help to a large number of teachers.

The Compiler.

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ रानडे की देश-सेवा (रामनारायण मिश्र) ...	१
२ एक दुराशा (बालमुकुंद गुप्त)	९
३ वृद्ध (प्रतापनारायण मिश्र)	१२
४ कहानी-लेखक (ज्वालादत्त शर्मा)... ...	१६
५ "इत्यादि" की आत्म-कहानी (यशोदानंदन अखौरी)	२७
६ बातचीत (बालकृष्ण भट्ट)	३४
७ एक परिहास-पूर्ण दृश्य (भारतेंदु हरिश्चंद्र)	४२
८ वीरवर बाप्पा रावल (राधाकृष्णदास) ...	५६
९ सफलता-रहस्य (एल० सी० वर्मन) ...	६७
१० मिलन (ज्वालादत्त शर्मा)	७६
११ कवित्व (चतुर्भुज औदीच्य)	९३
१२ त्याग और उदारता (राधाकृष्णदास) ...	१०२
१३ भानुप्रताप की कथा (मिश्रबंधु)	११५
१४ संतों की सहिष्णुता (मन्नन द्विवेदी) ...	१२३
१५ कर्तव्य और सत्यता (श्यामसुंदरदास) ...	१३३
१६ साहित्य की महत्ता (महावीरप्रसाद द्विवेदी)...	१४०
१७ उसने कहा था (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) ...	१४५
१८ श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता (लक्ष्मण नारायण गर्दे)	१६५
१९ तुलसीदास का महत्त्व (रामचंद्र शुक्ल) ...	१९५

हिंदी गद्य-संग्रह

(१) रानडे की देश-सेवा

स्वर्गवासी ह्यूम साहब ने, जिनको कांग्रेस का जन्मदाता कहते हैं, जो भारतीय सिविल सर्विस के बड़े उच्च पदाधिकारी रह चुके थे और जिनसे उस समय के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध लोगों से परिचय था, रानडे के संबंध में लिखा था कि "भारत में यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिसको पूरे चौबीस घंटे अपने देश का ही विचार रहता था, तो वह व्यक्ति रानडे था।" मिस्टर ह्यूम उनको "गुरु महादेव" कहकर पुकारते थे। रानडे के जीवन का बहुत सा समय पूना और बंबई में व्यतीत हुआ था। डाक्टर पोलन कहा करते थे कि रानडे पूना के बिना छत्रधारी राजा हैं। जब तक वे पूना में रहे, कोई भी संस्था ऐसी नहीं बनी जिसको या तो उन्होंने स्थापित न किया हो अथवा जिसकी उन्नति में योग न दिया हो।

सन् १८६२ ई० में 'इंदुप्रकाश' पत्र अँगरेजी और मराठी में निकलने लगा। इसके अँगरेजी विभाग के संपादक रानडे नियुक्त हुए। उस समय इस देश में पत्रों की संख्या बहुत

कम थी और पत्र-संपादन की योग्यता भी लोगों में कम थी। रानडे के लेखों ने सरकार और शिक्षित समाज को इस पत्र की ओर आकर्षित करा दिया। उनके अनेक बड़े महत्त्वपूर्ण लेख छपे, जिन्होंने—विशेष कर पानीपत के युद्ध की 'शताब्दी' के लेख ने—इस पत्र को बड़ा सर्वप्रिय कर दिया।

सन् १८७१ ई० में वे पूना के सब-जज हुए थे और सन् १८९३ ई० तक प्रायः वहीं रहे। बीच-बीच में यदि कहीं बदली भी होती तो वे घूम-फिरकर फिर पूना पहुँच जाते थे। पूना के देशभक्तों, भिन्न-भिन्न संस्थाओं के प्रवर्तकों और कार्य-कर्त्ताओं की सदैव उनके यहाँ भीड़ लगी रहती थी। देश-हित का ऐसा कोई कार्य न था जिससे उनका अनुराग न हो। उनका मत था कि देश में धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक और राजनीतिक उन्नति एक साथ होनी चाहिए। वे दूरदर्शी और गंभीर थे। उनका विश्वास था कि धैर्य, शांति और विचार से कार्य अधिक होता है और उसका प्रभाव अमिट होता है। उन्हें विद्रोह, विप्लव और अशांति से घृणा थी। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"सुधार करनेवालों को केवल कोरी पटिया पर लिखना आरंभ नहीं करना है। बहुधा उनका कार्य यही है कि वे अर्द्धलिखित वाक्य को पूर्ण करें। जो लोग कुछ किया चाहते हैं वे अपने अभिलषित स्थान पर तभी पहुँच सकते हैं जब उसे सत्य मान लें जो प्राचीन काल में सत्य ठह-राया गया है और बहाव में कभी यहाँ और कभी वहाँ धोमा

सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधें अथवा उसको किसी नूतन स्रोत की ओर बरबस ले जायँ।" पर उनके शब्द-कोष में शांति का अर्थ आलस्य नहीं था। जहाँ-जहाँ वे रहते वहाँ की अवस्था के सुधार में तन, मन, धन से लग जाते। पूना में पच्चीसों संस्थाएँ हैं जिनको उन्होंने जीवन-प्रदान किया था। सार्वजनिक सभा का, जिसको सन् १८७१ ई० में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता श्रीयुत गणेश वासुदेव जोशी ने स्थापित किया था और जो किसी समय में प्रसिद्ध राजनीतिक सभा थी, सब कार्य प्रायः वे ही किया करते थे। राज-नियम-संबंधी सुधार पर जितने पत्र यह सभा गवर्मेंट को भेजा करती थी, प्रायः उन सबको वे ही लिखा करते थे। उन्हीं की सलाह से सन् १८७६ ई० के दुर्भिक्ष में इस सभा ने अकाल-पीड़ित लोगों की रक्षा के लिए ऐसे उत्तम उपाय किये थे जिनसे यह सबकी प्रशंसापात्र बन गई थी। उन्हीं ने इस सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जिसमें वे स्वयं बड़े गंभीर, सामयिक और महत्व के लेख लिखते थे। उनकी मृत्यु के अनंतर "टाइम्स आफ इंडिया" पत्र ने लिखा था कि "इनके वे पुराने लेख यदि पुस्तकाकार छपवा न लिये जायँगे तो एक प्रसिद्ध देशहितैषी के विचारपूर्ण लेख गुप्त ही रह जायंगे।"

पूना के उस फर्ग्युसन कालिज के भी रानडे संस्थापकों में से थे जो इस समय भारतवर्ष में विद्यार्थियों की संख्या और अध्यापकों के आत्मसमर्पण में सबसे बड़ा कालिज समझा

जाता है। पूना-पुस्तकालय और प्रार्थना-समाज के भवन उन्हीं की सहायता और उत्तेजना से बने थे।

सन् १८७५ ई० में वसंत-व्याख्यान-माला रानडे और उनके मित्रों ने स्थापित की थी जिसमें इतिहास, पुराण, समाज-सुधार, राजनीति, शिक्षा आदि विषयों पर मराठी भाषा में प्रति वर्ष व्याख्यान होते थे और अब भी हुआ करते हैं।

पूना में रानडे से पचास वर्ष पहले एक सभा थी जो मराठी भाषा में पुस्तकों का अनुवाद करती थी। यह सभा टूट गई थी और इसका रुपया बंबई के एकौंटेंट-जनरल के दफ़्तर में जमा था। रानडे का विचार भी इसी प्रकार की एक सभा खोलने का था। जब उनको मालूम हुआ कि पुरानी सभा का रुपया गवर्मेंट में जमा है, तब उन्होंने उस सभा का पुनरुद्धार किया और सरकार में जमा किया हुआ रुपया ब्याज-सहित वसूल किया।

पूना में एक कंपनी है जिसके द्वारा रेशमी और सूती कपड़े बनते हैं। एक समय में इसकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई थी, परंतु रानडे ने इसकी रक्षा की। इसी प्रकार वहाँ के पेपर-मिल को उन्होंने सुधारा। वक्तृतोत्तेजक सभा, वसंत-व्याख्यान-माला इत्यादि के प्रबंध में भी आपने योग दिया था। एक पंचायत आपने स्थापित कराई थी जो मुक़द्दमेवालों में मेल कराती थी। हीराबाग में टाउनहाल आप ही के उद्योग से बना था। एक अजायबघर भी आपने

स्थापित कराया था। इसी प्रकार की अनेक संस्थाएँ आपके पूना-निवास-काल में स्थापित हुई थीं। जब वहाँ से उनकी नासिक और धूलिया में बदली हुई तब वे छुट्टियाँ पूना ही में बिताते थे। दिन के बारह-एक बजे तक और रात के दस बजे तक लोग इनके यहाँ जमा रहते थे। हर रोज किसी न किसी सभा, कमेटी अथवा अन्य प्रकार के देशहित के कार्य के आरंभ के लिए प्रस्ताव होते थे। कभी कभी उनको केवल दो घंटे सोने का अवकाश मिलता था। एक दो बार तो नवीन विचारों की चिंता ही में सबेरा हो गया। इस प्रकार पूना में वे अपनी छुट्टियाँ बिताते थे। जब वे पूना से बंबई हाईकोर्ट की जजी पर गये तब उन्होंने २५०००) अनेक संस्थाओं को दान दिया था।

जब आप नासिक बदल गये तब वहाँ जाकर भी आपने प्रार्थना-समाज स्थापित किया, स्त्रियों के लिए व्याख्यान उपदेश आदि का प्रबंध किया, कन्या-पाठशाला की उन्नति की। फिर जब धूलिया ऐसी जगह में बदली हो गई तब वहाँ जाकर भी वे देश-सेवा के अनेक उपाय करने लगे। जब वे दौरे का काम करते थे तब गाँवों में या कसबों में कन्या-पाठशालाएँ अथवा अन्य प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कराते थे।

बंबई विश्वविद्यालय के फेलो आप १८६५ ई० में चुने गये थे। बंबई पहुँचकर आपने यूनिवर्सिटी का काम करना आरंभ कर दिया। उस समय सर मंगलदास नाथूभाई ने मृत्यु से पहले एक वसीयतनामे में ३॥ लाख रुपया यूनिवर्सिटी

को देने को लिखा था, परंतु उनके उत्तराधिकारियों में झगड़ा हो गया। इस अवस्था में वे यूनिवर्सिटी को एक पैसा भी देना नहीं चाहते थे। पर रानडे ने प्रेम और युक्ति-द्वारा उनको रुपया देने पर राजी कर लिया। इस बात को बंबई के लाट लार्ड नार्थकोट ने अपने कनवोकेशन के व्याख्यान में, उनकी मृत्यु के उपरांत, कहा था।

विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं को स्थान दिलाने का उन्होंने अनेक बार प्रयत्न किया। यूनिवर्सिटी परीक्षाओं के स्थापित होने के समय में, सन् १८५६ ई० में, देशी भाषाएँ पढ़ाई जाती थीं परंतु सन १८७० ई० से वे परीक्षाओं से यह कहकर निकाल दी गईं कि उनमें संस्कृत और अरबी के ऐसा साहित्य नहीं है। रानडे ने एक बार विश्वविद्यालय के अनेक मेंबरों के हस्ताक्षर से, जिनमें कई मुसलमान और पारसी भी थे, एक पत्र यूनिवर्सिटी में इस विषय का भिजवाया कि बी० ए० और एम० ए० के अनेक विषयों में मराठी और गुजराती को भी स्थान दिया जाय और प्रत्येक विद्यार्थी को अधिकार रहे कि यदि वह चाहे तो इन देशी भाषाओं में भी परीक्षा दे सके। जब यह विषय सेंडिकेट में उपस्थित किया गया, रानडे ने बड़ी योग्यता से इसका समर्थन किया। पर उपस्थित सभासदों की सम्मति ली जाने पर आधे इसके पक्ष में और आधे विरुद्ध हो गये। जो महानुभाव सभापति के आसन पर विराजमान थे उन्होंने विरुद्ध सम्मति दी, इससे यह प्रस्ताव पास नहीं

हुआ। देशी भाषाओं के भक्तों को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उनमें से कई एक का उत्साह कम हो गया। परंतु रानडे ने उनको समझाया कि इस विषय में कुल सभासदों में आधे का भी पक्ष में हो जाना भविष्य के लिये अच्छे लक्षण हैं। जो इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे उनको अपनी ओर लाने के लिए उस समय उन्होंने मराठी भाषा का एक इतिहास लिखा। बहुत से लोगों का विश्वास था कि देशी भाषाओं में केवल गँवारी बातें हैं, उनमें साहित्य का नाम भी नहीं। रानडे ने ग्रंथों का नाम, उनकी विषय-सूची और ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण लिखकर इस इतिहास में यह दिखलाया कि मराठी भाषा में पद्य के बहुमूल्य ग्रंथ मिलते हैं जिनमें विद्वानों को साहित्य का पूर्ण रसस्वाद प्राप्त हो सकता है। हाँ, गद्य के ग्रंथों का अवश्य अभाव है, पर यह दोष संस्कृत में भी है। इस प्रकार लोगों का मतपरिवर्त्तन करने का पूरा प्रयत्न करके रानडे ने फिर इस विषय को सेंडिकेट में उपस्थित कराया। सेंडिकेट ने इस विषय पर विचार करने के लिए तीन सभासदों अर्थात् मिस्टर रानडे, सर फीरोजशाह मेहता और डाकृर माकीकन की एक सब-कमेटी बना दी। इस सब-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस विषय का समर्थन किया कि अँगरेजी कोर्स के साथ संस्कृत और फारसी के बदले मराठी या गुजराती पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। सब-कमेटी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि मराठी और गुजराती जीवित भाषाएँ

हैं। इन भाषाओं और इनके इतिहास का ज्ञान बालकों के लिए अत्यंत लाभकारी होगा। उन्होंने यह भी बतलाया कि अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग अँगरेजी-साहित्य, अँगरेजी इतिहास और विज्ञान आदि विषयों पर देशी भाषाओं में जनता के उपकारार्थ उस समय तक ग्रंथ नहीं लिख सकते जब तक उनको इन भाषाओं का ज्ञान न होगा। इसी प्रकार अनेक प्रमाणों से इस सब-कमेटी ने प्रस्ताव किया कि एम० ए० परीक्षा के लिए मराठी और गुजराती रक्खी जाय। इनका पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ा जाय। सब-कमेटी की रिपोर्ट का बहुत सा अंश रानडे ने लिखा था। २९ जनवरी सन् १९०१ ई० को सेनेट ने इस रिपोर्ट को स्वीकार किया और गुजराती और मराठी के साथ कनाड़ी भाषा को भी एम० ए० की परीक्षा में स्थान दिया; परंतु इसके पूर्व रानडे इस संसार से बिदा हो चुके थे।

रानडे की देशसेवा अनेक मार्गों में झुकी हुई थी। विद्यार्थियों में विद्यानुराग और देशसेवा का वे संचार करते थे। नवयुवकों के वे उत्तेजक थे। अनेक संस्थाओं के वे प्रवर्त्तक थे। राजनीतिक, औद्योगिक, धार्मिक, समाज-सुधार और विद्याप्रचार-संबंधी उनके अनेक कार्य देशवासियों की संपत्ति के समान हैं।

—रामनारायण मिश्र

(२) एक दुराशा

नारंगी के रस में जाफ़रानी बसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढोली कर दी थीं। वह मनमानी जकंदें भर रहा था। हाथ-पाँव को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया के तूलअरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कन-रसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा।

"चलो चलो आज खेलैं होली, कन्हैया घर"। कमरे से निकलकर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसंत में सावन देखकर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिए था, न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, वसंत के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गाने-वाले की नहीं, विधि की भूल है जिसने वसंत में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती,

कोयल की कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतुविपर्यय है।

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली-खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन? व्रज के राजकुमार और खेलनेवाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वालवाल। इस विचार ने शिवशंभु शर्मा को और भी चौंका दिया कि एँ! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिलकर आनंद मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनंद को किसी समय अपना आनंद समझते थे? यदि आज शिवशंभु शर्मा अपने मित्रवर्ग-सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे, रंग की पिच-कारियाँ लिये, अपने राजा के घर होली खेलने जायँ तो कहाँ जायँ? राजा दूर सात समुद्र पार है। न राजा को शिव-शंभु ने देखा, न राजा ने शिवशंभु को! खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारका में ही हैं पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर व्रजवासियों को संतोष देने के लिए व्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता? ओफ़! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है? वह तो समय समझकर ही गा रहा था। यदि वसंत में वर्षा की झड़ी

लगे तो गानेवाले को क्या मलार गाना चाहिए ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है धूप नहीं। चंद्र है चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिवशंभु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती ! जहाँगीर की तरह उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरियाद उसे सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चंद्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नज़र गड़ाने से उसका चंद्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह है। किंतु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है, लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचंद्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशंभु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशंभु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशावाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी-कभी पागल समझकर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।

—बालमुकुंद गुप्त

---

(३) वृद्ध

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं है। यद्यपि अब इनके किसी अंग में कोई सामर्थ्य नहीं रही अतः इनसे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असंभव सा है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका सम्मान करें और इनके थोड़े से बचे-खुचे जीवन को गनीमत जानें; क्योंकि इन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अच्छर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो तथापि संसार की ऊँच-नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है, इसी से शास्त्र की आज्ञा है कि वयोधिक शूद्र भी द्विजाति के लिए माननीय है। यदि हममें बुद्धि हो तो इनसे पुस्तकों का काम ले सकते हैं, वरंच पुस्तक पढ़ने में आँखों को तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पड़ने पर दूसरों के पास दौड़ना पड़ता है पर इनसे केवल इतना कह देना बहुत है कि हाँ बाबा फिर क्या हुआ ? हाँ बाबा ऐसा हो तो कैसा हो ? बस बाबा साहब अपने जीवन भर का आंतरिक कोष खोलकर रख देंगे। इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिए उचित है कि हम क्या हैं हमारे पूज्य पिता दादा ताऊ भी इनके आगे के छोकड़े थे। यदि यह बिगड़ें तो किसकी कलई नहीं खोल सकते ? किसके नाम पर गट्टा सी नहीं सुना सकते ? इन्हें संकोच किसका है ? बच्चों के सिवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सकता है ? जब यह

आप ही चिता पर एक पाँव रखे बैठे हैं, कब्र में पाँव लटकाये हुए हैं तब इनका कोई कर क्या सकता है ? यदि इनकी बातें-कुबातें हम न सहें तो करें क्या ? यह तनिक सी बात में कष्टित और कुंठित हो जायँगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे जो वास्तव में बड़े-बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों की भाँति अनिष्टकारक होगा। जब कि महात्मा कबीर के कथनानुसार मरी खाल की हाय से लोहा तक भस्म हो जाता है तब इनकी पानी-भरी खाल की हाय कैसा कुछ असंगल नहीं कर सके ! इससे यही न उचित है कि इनके सच्चे अशक्त अंतःकरण का आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करें; क्योंकि समस्त धर्म-ग्रंथों में इनका आदर करना लिखा है, सारे राजनियमों में इनके लिए पूर्ण दंड की विधि नहीं है। और सोच देखिए तो यह दया-पात्र जीव हैं क्योंकि सब प्रकार पौरुष से रहित हैं, केवल जीभ नहीं मानती, इससे आँय-बाँय-शाँय किया करते हैं, या अपनी खटिया पर थूकते रहते हैं। इसके सिवा किसी का कुछ बिगाड़ते ही नहीं हैं। हाँ, इस दशा में दुनिया के झंझट छोड़के भगवान् का भजन नहीं करते, वृथा चार दिन के लिए झूठी हाय हाय में कुढ़ते-कुढ़ाते रहते हैं। यह बुरा है। पर इसके लिए क्यों इनकी निंदा की जाय ? आजकल बहुतेरे मननशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों के मारे कुछ नहीं होने पाता, वे अपनी पुरानी अकिल के कारण प्रत्येक देश-हितकारक नव विधान में विघ्न खड़ा कर देते हैं।

हमारी समझ में यह कहनेवालों की भूल है, नहीं तो सब लोग एक से ही नहीं होते। यदि हिकमत के साथ राह पर लाये जायँ तो बहुत से बुड्ढे ऐसे निकल आवेंगे जिनसे अनेक युवकों को अनेक भाँति की मौखिक सहायता मिल सकती है। रहे वे बुड्ढे जो सचमुच अपनी सत्यानाशी लकीर के फ़क़ीर अथवा अपने ही पापी पेट के गुलाम हैं। वे पहले हई कै जने? दूसरे अब वह समय नहीं रहा कि उनके कुलच्छण किसी से छिपे हों। फिर उनका क्या डर? चार दिन के पाहुन कछुआ, मछली अथवा कीड़ों की परसी हुई थाली, कुछ अमरौती खाके आये हैं नहीं, कौवे के बच्चे हई नहीं, बहुत जियेंगे दस वर्ष। इतने दिन में मर-पचके दुनिया भर का पीकदान बनके दस लोगों के तलवे चाटके अपने स्वार्थ के लिए पराये हित में बाधा करेंगे भी तो कितनी; सो भी जब देशभाइयों का एक बड़ा समूह दूसरे ढर्रे पर जा रहा है तब आखिर थोड़े ही दिन में आज मरे कल दूसरा दिन होना है। फिर उनके पीछे हम अपने सदुद्योगों में त्रुटि क्यों करें! जब थोड़ी सी घातों की जिंदगी के लिए वे अपना बेढंगापन नहीं छोड़ते तो हम अपनी बृहज्जीवनाशा में स्वधर्म क्यों छोड़ें! हमारा यही कर्तव्य है कि उनकी शुश्रूषा करते रहें, क्योंकि भले हों वा बुरे पर हैं हमारे ही। अतः हमें चाहिए कि अदब के साथ उन्हें संसार की अनित्यता अथवा ईश्वर, धर्म, देशोपकार एवं बंधुवात्सल्य की सभ्यता का निश्चय कराते

रहें। सदा समझाते रहें कि हमारे तो तुम बाबा ही हो। अगले दिनों के ऋषियों की भाँति विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध हो तो भी बाबा हो और बाबा लोगों की भाँति 'आपन पेट हाहू, मैं ना देहौं काहू' का सिद्धांत रखते हो तो भी वयोवृद्ध के नाते बाबा ही हो, पर इतना स्मरण रखो कि अब जमाने की चाल वह नहीं रही जो तुम्हारी जवानी में थी। इससे उत्तम यह है कि इस वाक्य को गाँठो बाँधो कि चाल वह चल कि 'पसे-मर्ग' मुझे याद करें। काम वह कर कि जमाने में तेरा नाम रहे—नहीं तो परलोक में वैकुंठ पाने पर भी उसे थूक थूक के नरक बना लोगे, इस लोक का तो कहना ही क्या है। अभी थूक खखार देख कुटुंबवाले घृणा करते हैं, यदि वर्तमान करतूतें विदित हो गईं तो सारा जगत् सदा थुड़ू थुड़ू करेगा ! यों तो मनुष्य की देह ही क्या है, जिसके यावदवयव घृणामय हैं, केवल बनानेवाले की पवित्रता के निहोरे श्रेष्ठ कहलाते हैं, नहीं तो निरी खारिज खराब हाल खाल की खलीती है, तिस पर भी उस अवस्था में जब कि—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समानाः स्वर्याताः सदपि सुहृदो जीवितसमाः।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धेपि नयने
अहो दुष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः॥

यदि भगवच्चरणानुसरण एवं सदाचरण न हो सका तो हम क्या हैं राह चलनेवाले तक धिक्कारेंगे और कहेंगे कि—

'कहा धन धामै धरि लेहुगे सरा मैं भये जीरन तऊ रामै न भजत हौ'—यदि समझ जाओगे तो अपना लोक परलोक बनाओगे, दूसरों के लिए उदाहरण काम में लाओगे, नहीं तो हमें क्या है, हम तो अपनीवाली किये देते हैं, तुम्हीं अपने किये का फल पाओगे। लोग कहते हैं कि बारह बरसवाले को वैद्य क्या है, तुम तो परमात्मा की दया से पँचगुने छगुने दिन भुगता बैठे हो, तुम्हें तो चाहिए कि दूसरों को समझाओ; पर यदि स्वयं कर्तव्याकर्तव्य न समझो तो तुम्हें तो क्या कहें हमारी समझ को धिक्कार है जो ऐसे वाक्यरत्न ऐसे कुत्सित ठौर पर फेंका करती है।

—प्रतापनारायण मिश्र

---

(४) कहानी-लेखक

प्रयाग-विश्वविद्यालय के अंडर ग्रेजुएट के लिए डाक्टरी या वकालत के सदृश समय और धन-सापेक्ष व्यवसायों के सिवा नौकरी में नायब-तहसीलदारी या सब-रजिस्ट्रारी के पद ही अधिक आकर्षण रखते हैं; पर उनकी प्राप्ति के लिए विद्या से बढ़कर सिफारिश की जरूरत है। पिता के मित्र सूबेदार नन्हेसिंह से जब मैं मिला तब उन्होंने दु:ख प्रकाश करते हुए कहा कि मैं इसी वर्ष अपने भतीजे की सिफारिश कर चुका हूँ और परिमाण से अधिक सिफारिश

करके मैं अपने हाकिम का दिमाग, अधिक भोजन से मेदे की तरह, बिगाड़ना नहीं चाहता।

उनकी युक्ति-युक्त बात सुनकर मैंने कहा—ठीक।

खाली समय में उपन्यास पढ़ने का चसका कालेज में ही पड़ चुका था; उन्हीं दिनों अमेरिका के एक पत्र में, जो चुभते हुए उपन्यास लिखने में अपना जवाब नहीं रखता था, पढ़ा—कहानी लिखनेवालों का व्यवसाय आज-कल खूब चमक रहा है। जिसकी जैसी योग्यता होती है वह इस पेशे से उतना ही पैदा कर लेता है। योरप में कहानी-लेखक लाखों रुपया पैदा कर रहे हैं; और तरह के व्यवसायों में अनेक झंझट हैं। उनमें धन की आवश्यकता, उपकरण की आवश्यकता, मुनीबों और नौकरों की आवश्यकता और सबसे बढ़कर मौके की जगह की आवश्यकता होती है; पर कहानी लिखनेवाले को मुलायम पेंसिल और व्यवसाय चमक जाने पर फाउनटेन पेन और कागज के सिवा और किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं है। उसी लेख में, आगे चलकर, लिखा था कि फ्रांस के एक लेखक के पास आठ-दस क्वाँरी लड़कियाँ क्यों, युवतियाँ, नौकर हैं। वे अपने-अपने समय पर आती हैं और कहानी लिखनेवालों का वह आचार्य्य उनमें से हर एक को एक-एक कहानी लिखवा देता है। इस तरह आठ-दस कहानियाँ लिखकर वह आठ-दस 'कहानी कहनेवाले' पत्रों के पेट भरने के साथ ही साथ अपनी जेब भरता है।

उस पत्र में यह सब कुछ पढ़कर मैं सोचने लगा कि अब तक मैंने क्यों इस ओर ध्यान नहीं दिया। उस समय मेरा मन अनेक तरह के विचारों के सागर में गोते खाने लगा।

अवकाश के समय में पढ़े उपन्यासों की मनोहर छटाएँ अपनी-अपनी भाषा में 'तथास्तु' कहने लगीं। मैंने सोचा—घर बैठे का ऐसा अच्छा रोजगार कि जिसमें मूलधन की कुछ भी जरूरत नहीं, मुझे तत्काल शुरू कर देना चाहिए। विक्टर ह्यूगो और रवींद्रनाथ का नाम स्मरण करके मैंने अपना इरादा पक्का कर लिया।

उसी लेख में एक पुस्तक का उल्लेख था, जिसे फ्रांस के उसी कहानी-लेखक ने कहानी लेखन-कला पर लिखा था। मैंने उसे मँगाया। उसे पाकर मैंने समझा कि अब मैदान मार लिया। धर्मपुस्तक की तरह मैं उसका अध्ययन करने लगा। उसमें लिखा था कि कहानी लिखने का काम जितना मुश्किल है उतना ही आसान है। इस मुश्किल को उस चतुर लेखक ने इस तरह आसान किया था—हर आदमी समाज में सबसे मिलता है। सुख-दुःख के अवसरों पर सम्मिलित होता है। संसार के उतार-चढ़ाव देखता है पर समझता कम है और सच यह है कि समझने की कोशिश नहीं करता है। कहानी लिखनेवाले को सबसे मिलना तो पड़ेगा ही; पर साथ ही साथ समझना भी पड़ेगा। उसे अपने आँख-कान के साथ दिल का दफ़्तर खोलकर चलना पड़ेगा। रास्ते में जहाँ

जो मिलेगा उसे उठाकर ठीक जगह जमा करना पड़ेगा। दृष्टांत के तौर पर उसमें लिखा था—एक कहानी-लेखक ट्राम-गाड़ी में जा रहे थे। उन्हीं के पास एक महिला बैठी हुई कोई चिट्ठी पढ़ रही थी। चिट्ठी पढ़ने के भाव और चिट्ठी की लिखावट को देखकर उस दिव्य ज्ञानी कहानी-लेखक को मालूम हुआ कि इस जगह कहानी लिखने का कुछ मसाला मिल सकता है। झट उसने उस महिला से परिचय प्राप्त करके उस पर प्रकट कर दिया कि वह एक प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास-लेखक है। जटिल बातों में लोग उससे प्रायः परामर्श लेते हैं। महिला ने उसे घर बुलाया और पति की क्रूरता का वृत्तांत सुनाकर उससे परामर्श की भिक्षा माँगी। कहानी-लेखक ने परामर्श दिया और बहुत सी उपहार-सामग्री के साथ वह एक बढ़िया कहानी का प्लाट घर ले आया।

इसी पुस्तक में एक जगह लिखा था कि कहानी-लेखक को एकांत स्थानों में प्रायः घूमना चाहिए। ऐसे स्थानों में घूमने से, जहां कल्पना-शक्ति पर धार चढ़ती है, कभी-कभी घटना के बीज भी, अनायास, मिल जाते हैं। इसके दृष्टांत में पुस्तक-लेखक ने लिखा था कि अमेरिका का एक कहानी-लेखक किसी नदी के एकांत तट पर घूम रहा था कि उसे दो प्रेमियों के पत्र-व्यवहार का एक पुलिंदा मिल गया। उसकी सहायता से उसने एक नहीं अनेक कहानियाँ लिख डालीं।

उस पुस्तक में यह भी लिखा था कि संसार में घटनाओं की कमी नहीं। दैनिक पत्र घटनाओं के बोझ को सिर पर रखकर, प्रातःकाल ही, हर आदमी के स्थान पर थोड़े से खर्च में, पहुँच जाते हैं। चरित्रों की कमी नहीं; हर घर में, हर समाज में, अच्छे-बुरे, ऊँचे नीचे और मिश्रित आचरणवाले मनुष्य मौजूद हैं। वर्णनीय विषयों का भी अकाल नहीं। सब चीजें यथेष्ट परिमाण में मौजूद हैं। बस लेखक की प्रतिभा उन सामयिक घटनाओं और सामने चलते-फिरते चरित्रों को मथकर चमत्कार रूप मक्खन निकाल लेती है।

मैंने सोचा—घटनाओं के काल्पनिक डेरीफार्म का चमत्कार रूप मक्खन खूब ऊँचे दर पर बेचूँगा। उस समय घर की गरीबी को काफूर होते बहुत देर न लगेगी।

उसी दिन से मैंने आँख-कान खोलकर घूमना शुरू कर दिया। घर-बाहर, बाजार, हाट, नदी-तट और रेलवे प्लेट-फार्म पर मैं प्रायः इसी उद्देश्य से घूमा करता था। कभी गाँव की कच्ची सड़क पर और कभी श्मशान में भी मैं चक्कर लगाया करता था। इन स्थानों पर घूमते समय मार्के की कोई बात दिखाई पड़ती तो मैं उसे अपनी नोटबुक में टाँक लेता था। कहीं अधिक मोटा आदमी मिल गया तो उसका शाब्दिक फोटो खींच लिया। कहीं कोई झगड़ा हो गया तो उसकी प्रश्नोत्तरी लिख ली। किसी ने फबता हुआ कोई फिकरा कह दिया कि मैंने उड़ा लिया।

महीने बीत गये; पर मानव-कुल के निरीक्षण का मेरा काम वैसा ही चलता रहा। एक दिन बूढ़ी माता ने हाथ का खड़ुआ मेरे सामने रखकर कहा—बेटा, इसे बाजार से बेच ला। घर में अन्न नहीं है।

माता का चेहरा जरा भी उदासीन न था। उसने कई बार मुझसे नौकरी करने के लिए कहा था; किंतु मैंने उसे समझा दिया था कि मैं एक ऐसे ही काम के लिए तैयारी कर रहा हूँ। उस दिन से माता शांति से घर की चीजें बेचकर मुझे खिलाती रही। कभी मेरे काम में विघ्न न डाला। मेरी व्यस्तता को देखकर वह बहुत प्रसन्न मालूम होती थी।

मैं प्रातःकाल होते ही घर से निकल जाता था। १० बजे लौटता था। भोजनोपरांत संसार के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखकों के अँगरेजी अनुवाद पढ़ता था। फिर शाम को 'उपादान-संग्रह' के लिए बाहर निकलता था। रात को घर लौटकर दिन में जो कुछ देखता या सुनता था, अपनी कापी में लिख लेता था। उस दिन माता के धैर्य्य पर मैंने एक छोटा सा निबंध लिखा। पुस्तक-लेखक ने लिखा था कि कहानी-लेखक को पहले निबंध लिखने का अभ्यास करना चाहिए। जो किसी घटना का जैसे का तैसा हाल और किसी विषय पर युक्ति-युक्त निबंध लिख सकता है वह समय पाकर अच्छा कहानी-लेखक हो सकता है।

मेरे मकान के पास एक डाक्टर रहते थे। वे पुराने हो गये थे, इसलिए अपनी जंग लगी विद्या की छुरी को गरीबों की गर्दन पर तेज किया करते थे। उन्होंने मुझसे एक दिन पूछा—"विश्व बाबू, देखता हूँ, अब तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। रोज घूमने से तुम्हारा शरीर खूब पुष्ट हो गया है।" फिर वे बड़ी निराशाभरी दृष्टि से मुझे देखने लगे, मानों अजीर्ण रोगी मैं—इतना सस्ता—उनके हाथ से निकल गया। मैं यदि कहानी लिखने की तैयारी न करता होता तो उस बूढ़े डाक्टर की कोटर-लीन आँखों को छेदकर उसके दिल तक की खबर न लाता। उसका धन्यवाद करके मैंने मन में कहा—ठहर जा, आज तेरे ही ऊपर अपने खाते में एक नोट जड़ूँगा, यदि कभी सुन लेगा तो सिर पीट डालेगा।

दूसरे दिन कहारी ने अपना महीना माँगा। मैं घर में था, इसलिए माता ने धीरे से उसे कल लेने के लिए कहा था। वह न मानी, चिल्लाने लगी। मैंने मन में कहा कि यदि यह मूर्खा कहारी मेरे वास्तविक रूप को पहचानती होती तो इस तरह झगड़ा न करती। अच्छा, आज इसकी कर्कशता का ही चित्र खींचूँगा। झगड़ ले और खूब झगड़ ले। मैं भी तेरा श्राद्ध करने में कुछ कसर न छोड़ूँगा। वह बक-बक करती हुई चली गई। माँ को उस झगड़े से बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने धीरे से पूछा—बेटा, अब कब तक तू कमाने लगेगा।

माँ की बात से मेरी निद्रा टूट गई। मैंने सोचा, इस तरह काम नहीं चलेगा। जो कुछ लिख लिया है अब उसे बाजार में रखना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि यह संपत्ति अमूल्य है—"पर खरीदार की, देखें तो, नजर कितनी है।"

दूसरे दिन शहर के दो एक संपादकों से मैं मिला। मैंने उनसे अपनी रुचि का प्रकाशन किया। वे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि आजकल साहित्याभिरुचि का पैदा होना बहुत ही कठिन है। आपकी प्रशंसा करते हैं कि ऐसे समय में आप साहित्य की भी वृद्धि करने के लिए अपने समय का इतना अच्छा उपयोग कर रहे हैं। फिर मैंने अपनी पुस्तक में से कुछ सुनाया। उसको सुनकर वे बड़े सहज भाव से मेरी चरित्र-विश्लेषण-शक्ति की प्रशंसा करने लगे। अंत में मैंने जब पुरस्कार का विषय उठाया तब तो उनके मुँह बेतरह बिगड़ गये। धूप खाये आम की तरह वे पिलपिला गये और कहने लगे—"महाशय, हिंदी में पुरस्कार का नाम न लीजिए। 'नेकी कर कुँवे में डाल' की बात है।" मैंने कहा—"तो साहित्य-सेवा से मैं पेट नहीं भर सकता।" उन्होंने कहा—"हाँ, अभी कुछ दिन नहीं। हमें ही देखिए, क्या मिलता है! किसी तरह पत्र चला रहे हैं।"

मैं वहाँ से चला आया। घर आकर फिर उस पुस्तक को पढ़ने लगा। उसमें लिखा था कि नये कहानी-लेखकों को ऐसे पत्र-संपादकों से बचना चाहिए जो पत्र के मालिक भी हों।

वे कैसा ही सड़ियल लेख हो छाप देते हैं, यदि मुफ्त मिलता है। दाम देकर लेख लिखाने की हिम्मत उनमें कम होती है। वे लोग अपना मतलब सिद्ध करने के लिए लेखक को दवाये रहते हैं। उसकी श्रेष्ठ रचना को भी साधारण बताते रहते हैं। कहीं असाधारण कहते ही लेखक के पंख न निकल आवें।

मैंने कहा—ठीक। फिर मैं दूने उत्साह से काम करने लगा। मैंने कहा—माल तैयार होने पर ग्राहक जुट ही जायँगे, उस दिन मैं एक तालाब के पास बैठा हुआ शरत् काल के लुभावने सायंकाल पर एक निबंध लिखने का अभ्यास कर रहा था। पास ही एक गोरा जल-मुर्गाबियों का शिकार खेल रहा था। वैसे स्निग्ध और शांत समय में उसका वह तांडव-नृत्य मुझे बहुत ही बुरा मालूम होता था।

उसने एक मुर्गाबी पर गोली चलाई। मुर्गाबी लोट गई। वह उसे लेने के लिए तालाब में बढ़ा कि एक साथ गड़प। निस्संदेह वह डूब रहा था। उसने मुझे पुकारा। मैं तत्काल दौड़कर उसके पास पहुँचा। मेरी धोती के छोर को पकड़-कर वह बाहर निकल आया। उसने मेरा धन्यवाद किया और पूछा—बाबू, तुम कुछ चाहता है? मैंने कहा—साहब, प्रकृति के ऐसे मधुर समय में आप हिंसा-वृत्ति को चरितार्थ न करके यदि प्रकृति का निरीक्षण किया करें तो अच्छा है। बस मैं आपसे यही चाहता हूँ और कुछ नहीं। सूर्य्यास्त की छटा को देखिए, तालाब के विजन दृश्य को देखिए, दूर तक फैले हुए

मैदान को देखिए। इस समय ऐसा मालूम होता है कि मानों प्रकृति सब ओर से मन हटाकर अपना सौंदर्य-साधन कर रही है और आप उसके हलके आभूषणों पर गोली चलाकर उसका बना-बनाया काम बिगाड़ रहे हैं। साहब ने समझा था, मैं उससे कुछ रुपया या कोई नौकरी माँगूँगा। इसलिए मेरी बातें, और निश्चय ही निबंध में पहले ही लिखी जा चुकी बातें, सुनकर वह चकित हो गया। उसने मुसकराते हुए कहा—बाबू, मालूम होता है, तुम कवि हो। मैंने कहा—हाँ साहब, एक तरह का।

उसने कहा—किस तरह का ?

मैंने कहा—गद्य-कवि। बात यह है कि मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में हूँ। उसमें गद्य-कविता करनी होती है—साहब।

मेरी बात सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—कहानी-लेखक बनने की धुन कैसी ?

मैंने उसे अपना सब वृत्तांत सुनाया। साहब खूब सहृदय था। बहुत से उपन्यासों को चाटे बैठा था। उस पुस्तक की बात सुनकर वह हो! हो! करके हँसने लगा। उसने कहा—बाबू, उस पुस्तक में लिखी बातों पर चलकर तुम कहानी-लेखक बनना चाहते हो। ईश्वर के लिए इस खब्त को छोड़ दो। क्यों अपना समय नष्ट करते हो! वह भी तो एक तरह का उपन्यास है।

मैंने कहा—नहीं महाशय, वह उपन्यास नहीं है। वह तो उपन्यास लिखने की कला पर एक प्रकरण-ग्रंथ है।

उसने हँस दिया। फिर अपनी जेब से नाम का कार्ड निकालकर मुझे देते हुए उसने कहा—तुम कृपा करके मेरे स्थान पर आना, मैं तुमको वैसी अन्य पुस्तकें भी दिखा दूँगा। अच्छा, धन्यवाद बाबू—यह कहकर वह, घोड़े पर चढ़कर, चल दिया। मैंने कार्ड को पढ़ा। उस पर छपा था—

जे० रीड, (I. C. S.)

कलक्टर और मैजिस्ट्रेट।

अपने शहर के मैजिस्ट्रेट की सहृदयता को और उससे भी बढ़कर सरलता को देखकर मैं मुग्ध हो गया।

दूसरे दिन मैं उनके बँगले पर गया। बड़ी अच्छी तरह मिले। बहुत देर तक बातचीत करते रहे। अपने पुस्तकालय की सैर कराई। अंत में कहानी-लेखक बनने के खब्त को छोड़ने का फिर परामर्श दिया। मैंने अपनी सम्मति प्रकट की। उन्होंने उसी समय एक कागज लिखकर मेरे हाथ में दिया और कहा—कल से तुम नौकर हुए। ठीक समय पर कचहरी में आओ। मैं सलाम करके चला आया।

निश्चय ही साहब ने मुझे एक साथ ५०) मासिक की पेशकारी दे दी। जब माता ने यह समाचार सुना, उनकी प्रसन्नता के बाँध टूट गये। हा! किस बुरी तरह वे घर का

काम चलाती थीं और मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में उनकी दुर्दशा का अनुभव तक न करता था। उन्होंने मेरी पीठ पर प्रेम का हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा, तेरी मिहनत सफल हुई।" उन्हें आज तक यही विश्वास है कि मैं उन दिनों नौकरी के लिए ही प्राणपण से उद्योग कर रहा था।

× × × ×

जिस भाग्य-भगवान् की अनुकूलता से रीड साहब कलक्टरी से तरक्की पाते हुए छोटे लाट हो गये उसी की मन्द मुसकान और रीड साहब की सहायता से मैं भी कुछ वर्षों में डिप्टी-कलक्टर हो गया। उन दिनों हमारे जिले में लाट साहब पधारे थे। मैजिस्ट्रेट की कोठी पर सबके सामने हँसते हुए उन्होंने मुझसे पूछा—विश्वनाथ, कहानी लिखने का खब्त अभी छूटा या नहीं?

मैंने नम्रता दिखाते हुए कहा—हजूर, आपकी कृपा से मेरा जीवन स्वयं एक मनोहर कहानी बन गया है।

साहब ने तत्काल कहा—O yes.

—ज्वालादत्त शर्म्मा

---

(५) "इत्यादि" की आत्मकहानी

"शब्द-समाज" में मेरा सम्मान कुछ कम नहीं है। मेरा इतना आदर है कि वक्ता और लेखक लोग मुझे जबरदस्ती

घसीट ले जाते हैं। दिन भर में, मेरे पास न जाने कितने बुलावे आते हैं। सभा-सोसायटियों में जाते-आते मुझे नींद भर सोने की भी छुट्टी नहीं मिलती। यदि मैं बिना बुलाये भी कहीं जा पहुँचता हूँ तो भी सम्मान के साथ स्थान पाता हूँ। सच पूछिए तो "शब्द-समाज" में यदि मैं, "इत्यादि," न रहता, तो लेखकों और वक्ताओं की न जाने क्या दुर्दशा होती। पर हा! इतना सम्मान पाने पर भी किसी ने आज तक मेरे जीवन की कहानी नहीं कही। संसार में जो जरा भी काम करता है उसके लिए लेखक लोग खूब नमक-मिर्च लगाकर पोथे के पोथे रँग डालते हैं; पर मेरे लिए एक सतर भी किसी की लेखनी से आज तक नहीं निकली। पाठक, इसमें एक भेद है।

यदि लेखक लोग सर्व-साधारण पर मेरे गुण प्रकाश करते तो उनकी योग्यता की कलई जरूर खुल जाती; क्योंकि उनकी शब्द-दरिद्रता की दशा में मैं ही उनका एक मात्र अवलंब हूँ। अच्छा, तो आज मैं चारों ओर से निराश होकर आप ही अपनी कहानी कहने और गुणावली गाने बैठा हूँ। पाठक, आप मुझे, "अपने मुँह मियाँ मिट्ठू" बनने का दोष न लगावें। मैं इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

अपने जन्म का सन्-संवत्-मिती-दिन मुझे कुछ भी याद नहीं। याद है इतना ही कि जिस समय "शब्द का महा अकाल" पड़ा था उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी

माता का नाम "इति" और पिता का "आदि" है। मेरी माता अविकृत "अव्यय" घराने की है। मेरे लिए यह थोड़े गौरव की बात नहीं है; क्योंकि भगवान् फणींद्र की कृपा से "अव्यय" वंशवाले, प्रतापी महाराज "प्रत्यय" के कभी अधीन नहीं हुए। वे सदा स्वाधीनता से विचरते आये हैं।

मैं जब लड़का था तब मेरे मा-बाप ने एक ज्योतिषी से मेरे अदृष्ट का फल पूछा था। उन्होंने कहा था कि यह लड़का विख्यात और परोपकारी होगा; अपने समाज में यह सबका प्यारा बनेगा; पर दोष है तो इतना ही कि यह कुँवारा ही रहेगा। विवाह न होने से इसके बालबच्चे न होंगे। यह सुनकर मा-बाप के मन में पहले तो थोड़ा दुःख हुआ; पर क्या किया जाय? होनहार ही यह था। इसलिए सोच छोड़कर उन्हें संतोष करना पड़ा। उन दोनों ने, अपना नाम चिरस्मरणीय करने के लिए, (मुझसे ही उनके वंश की इतिश्री थी) मेरा नाम कुछ और नहीं रखा। अपने ही नामों को मिलाकर वे मुझे पुकारने लगे। इससे मैं "इत्यादि" कहलाया।

पुराने जमाने में मेरा इतना नाम नहीं था। कारण यह कि एक तो लड़कपन में थोड़े लोगों से मेरी जान-पहचान थी; दूसरे उस समय बुद्धिमानों के बुद्धि-भांडार में शब्दों की दरिद्रता भी न थी। पर जैसे-जैसे शब्द-दारिद्र्य बढ़ता गया, वैसे-वैसे मेरा सम्मान भी बढ़ता गया। आजकल की बात मत पूछिए। आजकल मैं ही मैं हूँ। मेरे समान सम्मानवाला

इस समय मेरे समाज में कदाचित् विरला ही कोई ठहरेगा। आदर की मात्रा के साथ मेरे नाम की संख्या भी बढ़ चली है। आजकल मेरे अनेक नाम हैं—भिन्न-भिन्न भाषाओं के "शब्द-समाज" में मेरे नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। मेरा पहनावा भी भिन्न-भिन्न है—जैसा देश वैसा ही भेस बनाकर मैं सर्वत्र विचरता हूँ। आप तो जानते ही होंगे कि सर्वेश्वर ने हम "शब्दों" को सर्वव्यापक बनाया है। इसी से मैं, एक ही समय, अनेक ठौर काम करता हूँ। इस घड़ी विलायत की पार्लियामेंट महासभा में डटा हूँ; और इसी घड़ी भारत की पंडित-मंडली में भी विराजमान हूँ। जहाँ देखिए वहीं मैं परोपकार के लिए उपस्थित हूँ।

मुझमें यह एक भारी गुण है, कि क्या राजा, क्या रंक, क्या पंडित, क्या मूर्ख, किसी के घर जाने-आने में मैं संकोच नहीं करता; और अपनी मानहानि नहीं समझता। अन्य "शब्दों" में यह गुण नहीं। वे बुलाने पर भी कहीं जाने-आने में बड़ा गर्व करते हैं; बहुत आदर चाहते हैं। जाने पर सम्मान का स्थान न पाने से रूठकर उठ भागते हैं। मुझमें यह बात नहीं। इसी से मैं सबका प्यारा हूँ।

परोपकार और दूसरे की मान-रक्षा तो मानों मेरा धंधा ही है। यह किये बिना मुझे एक पल भी कल नहीं पड़ती। संसार में ऐसा कौन है जिसके, अवसर पड़ने पर, मैं काम नहीं आता? निर्धन लोग जैसे भाड़े पर कपड़ा-लत्ता पहन-

कर बड़े-बड़े समाजों में बड़ाई पाते हैं, कोई उन्हें निर्धन नहीं समझता, वैसे ही मैं भी छोटे-छोटे वक्ताओं और लेखकों की दरिद्रता झटपट दूर कर देता हूँ। अब दो-एक दृष्टांत लीजिए।

वक्ता महाशय वक्तृता देने को उठ खड़े हुए हैं। अपनी पंडिताई दिखाने के लिए सब शास्त्रों की बात थोड़ी-बहुत कहनी चाहिए। पर शास्त्र का जानना तो अलग रहा, उन्हें किसी शास्त्र का पन्ना भी उलटने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इधर-उधर से सुनकर दो-एक शास्त्रों और शास्त्रकारों का नाम भर जान लिया है। कहने को तो खड़े हुए हैं, पर कहें क्या ? अब लगे चिंता के समुद्र में डूबने-उतराने; और मुँह पर रूमाल दिये खाँसते-खूँसते इधर-उधर ताकने। दो-चार बूँद पानी भी उनके मुखमंडल पर झलकने लगा। जो मुख-कमल पहले उत्साह-सूर्य की किरणों से खिल उठा था, अब ग्लानि और संकोच का पाला पड़ने से मुरझाने लगा। उनकी ऐसी दशा देख मेरा हृदय दया से उमड़ आया। उस समय मैं, बिना बुलाये, उनकी सहायता के लिए जा खड़ा हुआ; और मैंने उनके कानों में चुपके से कहा—"महाशय, कुछ परवा नहीं, आपकी मदद के लिए मैं हूँ। आपके जी में जो आवे आरंभ कीजिए; फिर तो मैं सब कुछ निबाह लूँगा।" मेरे ढाढ़स बँधाने पर बेचारे वक्ताजी के जी में जी आया। उनका मन फिर ज्यों का त्यों हरा-भरा हो उठा। थोड़ी देर के लिए जो उनके मुखड़े के आकाश-मंडल में चिंता-चिह्न का बादल देख

पड़ा था, वह मेरे ढाढ़स के झकोरे से एकबारगी फट गया; और उत्साह का सूर्य्य फिर निकल आया। अब लगे वे यों वक्तृता झाड़ने—"महाशयो, मनु इत्यादि धर्म्मशास्त्रकार, व्यास इत्यादि पुराणकार, कपिल इत्यादि दर्शनकारों ने कर्मवाद, पुनर्जन्म-वाद इत्यादि जिन-जिन दार्शनिक तत्त्व-रत्नों को भारत के भांडार में भरा है, उन्हें देखकर मैक्समूलर इत्यादि पाश्चात्य पंडित लोग बड़े अचंभे में आकर चुप हो जाते हैं। इत्यादि, इत्यादि।"

यहाँ इतना कहने की जरूरत नहीं कि वक्ता महाशय धर्म-शास्त्रकारों में केवल मनु, पुराणकारों में केवल व्यास, दर्शनकारों में केवल कपिल का नाम भर जानते हैं; और उन्होंने कर्म्मवाद, पुनर्जन्मवाद का नाम भर सुन लिया है। पर देखिए मैंने उनकी दरिद्रता दूर कर उन्हें ऊपर से कैसा पहनावा पहनाया कि भीतर के फटे-पुराने और मैले चीथड़े को किसी ने नहीं देखा।

और सुनिए—किसी समालोचक महाशय का किसी ग्रंथ-कार के साथ बहुत दिनों से मनमुटाव चला आता है। जब ग्रंथकार की कोई पुस्तक समालोचना के लिए समालोचक साहब के आगे आई, तब वे बड़े प्रसन्न हुए, क्योंकि यह दाँव तो वे बहुत दिनों से ढूँढ़ रहे थे। पुस्तक को बहुत कुछ ध्यान देकर, उलटकर, उन्होंने देखा। कहीं किसी प्रकार का विशेष दोष पुस्तक में उन्हें न मिला। दो-एक साधारण छापे की भूलें निकलीं। पर इससे तो सर्वसाधारण की तृप्ति नहीं होती। ऐसी दशा में बेचारे समालोचक महाशय के मन में मैं याद आ

गया। वे झटपट मेरी शरण आये। फिर क्या है? पौ बारह! उन्होंने उस पुस्तक की यों समालोचना कर डाली—पुस्तक में जितने दोष हैं, उन सभों को दिखाकर, हम ग्रंथकार की अयोग्यता का परिचय देना, तथा अपने पत्र का स्थान भरना, और पाठकों का समय खोना, नहीं चाहते! पर दो-एक साधारण दोष हम दिखा देते हैं; जैसे, इत्यादि इत्यादि।

पाठक, देखा! समालोचक साहब का इस समय मैंने कितना बड़ा काम किया। यदि यह अवसर उनके हाथ से निकल जाता तो वे अपने मन-मुटाव का बदला क्योंकर लेते? यह तो हुई बुरी समालोचना की बात। यदि भली समालोचना करने का काम पड़े, तो मेरे ही सहारे वे बुरी पुस्तकों की भी ऐसी समालोचना कर डालते हैं, कि वह पुस्तक सर्वसाधारण की आँखों में भली भासने लगती है और उसकी माँग चारों ओर से आने लगती है।

कहाँ तक कहूँ। मैं मूर्ख को पंडित बनाता हूँ। जिसे युक्ति नहीं सूझती उसे युक्ति सुझाता हूँ। लेखक को यदि भाव प्रकाश करने की भाषा नहीं जुटती तो भाषा जुटाता हूँ। कवि को जब उपमा नहीं मिलती, उपमा बताता हूँ। सच पूछिए तो मेरे पहुँचते ही अधूरा विषय भी पूरा हो जाता है। बस, क्या इतने से मेरी महिमा प्रगट नहीं होती?

—यशोदानंदन अखौरी

---

(६) बातचीत

इसे ते। सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं उनमें वाक्शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और-और इंद्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति मनुष्यों में न होती तो हम नहीं जानते कि इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुंज-पुंज से हो मानों कोने में बैठा दिये गये होते और जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हम अपनी दूसरी-दूसरी इंद्रियों के द्वारा करते उसे, अवाक् होने के कारण, आपस में एक-दूसरे से कुछ न कह-सुन सकते। इस वाक्शक्ति के अनेक फायदों में "स्पीच" वक्तृता और बातचीत दोनों हैं। किंतु स्पीच से बातचीत का ढंग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता कि वह बड़े अंदाज से गिन-गिनकर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नांदीपाठ की भाँति घड़ियों तक साहबान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज एंड जेंटिलमेन की बहुत सी स्तुति करे-करावे और तब किसी तरह वक्तृता का आरंभ करे। जहाँ कोई मर्म या नोक की चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि तालिध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिए वक्ता को खामखाह ढूँढ़कर कोई ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमें करतलध्वनि अवश्य हो।

वही हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम दो आदमी प्रेम-पूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई, हँस पड़े। मुसकराहट से ओठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिंदगी मजेदार बनाने के लिए खाने, पीने, चलने, फिरने आदि की जरूरत है वहाँ बातचीत की भी उसको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुवाँ जमा रहता है वह बातचीत के जरिये भाफ बन बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ बैठते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है पर वे बातचीत का मजा नहीं खोया चाहते। राबिंसन क्रूसो का किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा जिसे १६ वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह १६ वर्ष के उपरांत उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी।

यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था पर उस समय राबिंसन को ऐसा आनंद हुआ मानों इसने नये सिरे से फिर के आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ उन्हें अपने प्रेमी से बात करने की कितनी लालसा रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे पर प्रगट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों के ही द्वारा हो सकता है। सच है, जब तक मनुष्य बोलता नहीं तब तक उसका गुण-दोष प्रगट नहीं होता। बेन जानसन का यह कहना, कि बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित जान पड़ता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रखी जा सकती है जहाँ तक उनकी जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है कि असल बातचीत सिर्फ दो व्यक्तियों में हो सकती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल एक दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गई। कहा भी है कि छः कानों में पड़ी बात खुल जाती है। दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो वे दोनों अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे।

जैसे गरम दूध और ठंढे पानी के दो बरतन पास सटा के रखे जायँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है, चाहे एक दूसरे को देखें भी नहीं, तब बोलने की कौन कहे। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के साथ में देखना चाहिए। मानों एक से त्रिकोण सा बन जाता है। तीनों चित्त मानों तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानों उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुप-चुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है। जो बातचीत तीनों में की गई वह मानों अँगूठी में नग सी जड़ जाती है। उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी को बिल्कुल स्थान नहीं रहता। खुल के बातें न होंगी। जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फार्मेलिटी", गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई होगी। चार से अधिक की बातचीत तो केवल रामरमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते। इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्रायः जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। वे बाबा आदम के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं जिसमें चार सच तो

दस झूठ ! एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छुट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अंत न होगा। प्रायः अँगरेजी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवानों की निंदा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर-चूर 'हमचुनी दीगरे नेस्त'। अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। दो हमसहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है। रस का समुद्र मानों उमड़ा चला आ रहा है। इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रसभनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

दो बुढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण बहू-बेटोवाली हुई तो अपनी बहुओं या बेटों का गिल्ला शिकवा होगा या वे बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेंगी कि बात करते-करते अंत में खोढ़े दाँत निकाल लड़ने लगेंगी। लड़कों की बातचीत, खिलाड़ी हुए तो, अपनी-अपनी तारीफ करने के बाद वे कोई सलाह गाँठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की बातचीत का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियों में किसी के गुन-औगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में कोई लड़का तेज हुआ तो कभी अपने सामने दूसरे

को कुछ न गिनेगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली का सा स्कूल भर को अपना गुरू ही मानेगा। इसके अलावा बातचीत की और बहुत सी क़िस्में हैं। राजकाज की बात, व्यापार-संबंधी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश में नीच जाति के लोगों में बतकही होती है। लड़की-लड़केवाले की ओर से एक-एक आदमी बिचवई होकर दोनों के विवाह-संबंध की कुछ बातचीत करते हैं। उस दिन से बिरादरीवालों को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रसम बड़े उत्सव के साथ की जाती है। चंडूखाने की बातचीत भी निराली होती है। निदान बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

यूरप के लोगों में बात करने का हुनर है। "आर्ट आफ कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला-प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद्-गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद्-गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रकट हो वरन् क्रम रसाभास पैदा करने-वाले सभों को बरकते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत को अक्रम रखते हैं। वह हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बातचीत

में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटाझपटी के समान जिनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक दूसरे को अपने पांडित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव-काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी-बड़ी कंपनी और कार-खाने आदि बड़े से बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत से ही शुरू किये गये। उपरांत बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उससे जीविका चलने लगी और साल में लाखों की आमदनी होने लगी। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सारगर्भित होगी, अनुभव और दूरंदेशी से खाली न होगी और पचीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबहलाव और ताजगी रहती है जिसकी मिठास उससे दस-गुना चढ़ी-बढ़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे फरीक के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमी जाकर दूसरे को कृतार्थ करें। पर यह सब तो

दुनियादारी है जिसमें कभी-कभी रसाभास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिल-जोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमी उनके यहाँ गये तो पहले तो विना बुलाये जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक वर्ताव न किया गया तो मानों एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इस-लिए सबसे उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नये-नये रंग दिखाया करती है, वह प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है, जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। ऐसे चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिलबहलाव है? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी न पहुँच सका। इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त को एकाग्र करना है जिसका साधन एक-दो दिन का काम नहीं, वरसों के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ी भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानों अहोभाग्य। एक वाक्शक्तिमात्र के दमन से न जानिए कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा कतरनी के समान सदा स्वच्छंद चला करती है, उसे यदि हमने दबाकर काबू में

कर लिया तो क्रोधादिक बड़े-बड़े अजेय शत्रुओं को विना प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इसलिए अवाक् रह अपने आप बातचीत करने का यह साधन यावत् साधनों का मूल है, शांति का परम पूज्य मंदिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

—बालकृष्ण भट्ट।

---

(७) एक परिहास-पूर्ण दृश्य

स्थान—राजभवन

[राजा, रानी, विदूषक और दरवारी लोग दिखाई पड़ते हैं]

राजा—प्यारी, तुम्हें वसंत के आने की बधाई है। देखो अब पान बहुत नहीं खाया जाता, न सिर में तेल देकर चोटी कसके गूँधी जाती है, वैसे ही चोली भी कस के नहीं बाँधी जाती, न केसर का तिलक दिया जा सकता है। इसी से प्रगट है कि वसंत ने अपने बल से सरदी को अब जीत लिया।

रानी—महाराज! आपको भी बधाई है। देखिए, रसिक-जन चंदन लगाने और फूलों की माला पहिरने लगे और दोहर पाँयते रखी रहती है तो भी अब ओढ़ने की नौबत नहीं आती।

[नेपथ्य में दो बैतालिक गाते हैं]

जै पूरब दिसि कामिनी कंत। चंपावति नगरी सुख समंत ॥
खेलत जीत्यो जिन राढ़ देस। मोहत अनंग लखि जासु भेस ॥

क्रीड़ा मृग जाको सारदूल। तन बरन कांति मनु हेम फूल ॥
सब अंग मनोहर महाराज। यह सुखद होइ रितुराज साज ॥

मंद मंद लै सिरिस सुगंधहि सरस पवन यह आवै।
करि संचार मलय पर्वत पैं बिरहिन ताप बढ़ावै ॥
कामिनि जन के बसन उड़ावत काम-धुजा फहरावै।
जीवन प्रान दान सो वितरत वायु सबन मन भावै ॥ १ ॥
देखहु लहि रितुराजहि उपवन फूली चारु चमेली।
लपटि रहीं सहकारन सों बहु मधुर माधवी बेली ॥
फूलें वर बसंत वन वन मैं कहुँ मालती नवेली।
तापैं मदमाते से मधुकर गूँजत मधु रस रेली ॥ २ ॥

राजा—प्यारी, हम लोग तो आपस में वसंत की बधाई एक दूसरे को देते ही थे अब इन दोनों कांचनचंद्र और रत्नचंद्र बंदियों ने हम दोनों को बधाई दी। अब तुम इस वसंतोत्सव की ओर दृष्टि करो। देखो, कोइल कैसे पंचम सुर में बोलती है, हवा के झोंके से लताएँ कैसी नाच रही हैं, तरुण स्त्रियों के जी में कैसा इसका उत्साह छा रहा है और सारी पृथिवी इस वसंत की वायु से कैसी सुहानी हो रही है।

रानी—महाराज! वंदी ने जैसा कहा है हवा वैसी ही बह रही है। देखिए, यह पवन लंका के कँगूरों की पंक्ति में यद्यपि कैसा चंचल है पर अगस्त्य मुनि के आश्रम में उनके भय से धीरा चलता है; इसके झोंके से चंदन, कपूर, कंकोल और केले के पत्ते कैसे झोंका खा रहे हैं; जंगलों में जहाँ-तहाँ

साँप नाचते हैं और ताम्रपर्णी नदी की लहरों को यह स्पर्श करता है तो उन्हें दूना कर देता है।

विदूषक—अरे कोई मुझे भी पूछो, मैं भी बड़ा पंडित हूँ। जब मैंने अपना मकान बनाया था तब हजारों गदहों पर लाद-लादकर पोथियाँ नेव में भरवाई गई थीं और हमारे ससुर जनम भर हमारे यहाँ पोथी ही ढोते-ढोते मरे, काले अक्षर दूसरों को तो कामधेनु हैं पर हमको भैंस हैं।

विचक्षणा—इसी से तो तुम्हारा नाम लबार पाँड़े है।

विदू०—(क्रोध से) हत तेरी की दाई माई लुच्ची मूर्ख! अब हम ऐसे हो गये कि मजदूरिनें भी हमें हँसें।

विच०—तुम्हारी माई लुच्ची है तभी तुम ऐसे सपूत हुए। तुमसे तो वे भाट अच्छे जो अभी गीत गा गये हैं। तुम्हें इतनी भी समझ नहीं है कि कुछ बनाओ और गाओ। यह सेखी और तीन काने।

विदू०—अब हम इनके सामने गावेंगे, इनका मुँह है कि हमारी कविता सुनें। हाँ अगर हमारे दोस्त महाराज कुछ कहें तो अलबत्ते गाऊँ।

राजा—हाँ हाँ, मित्र पढ़ो हम सुनते हैं।

विदू०—(लाठी पर तमूरा बजाकर गाता है)

आयो आयो बसंत आयो आयो बसंत,
बन में महुआ टेसू फुलंत।

नाचत है मोर अनेक भाँति,
मनु भैंसा का पड़वा फूलफालि ॥
बेला फूले वन बीच बीच,
मानों दही जमायो सींच सींच ।
बहि चलत भयो है मंद पौन,
मनु गदहा को छान्यो पैर ॥

तारीफ और वाह वाह करते जाइए नहीं न गाया जायगा। देखिए संगीत साहित्य दोनों एक ही साथ करना मेरा ही काम है।

(गाता है)

गेंदा फूले जैसे पकौरि। लड्डू से फले फल बौरि बौरि ॥
खेतन में फूले भात दाल। घर में फूले हम कुल के पाल ॥
आयो आयो बसंत आयो आयो बसंत।
हम बसंत, राजा बसंत, रानी बसंत, यह दाई भी बसंत ॥

(सब लोग हँसते हैं)

राजा—भला इनकी कविता तो हो चुकी, अब विचक्षणे तुम भी कुछ पढ़ो।

विदू०—हाँ हाँ, हमारी बोली पर हँसती है तो यह पढ़ै, बड़ी बोलनेवाली। इसको सिवाय टें-टें करने के और आता क्या है? क्या ऐसी स्त्री राजा के महल में रहने के योग्य है? यह रात-दिन महारानी का गहना चुराकर अपने मित्रों को दिया करती और उस पर हमारे काव्य पर हँसती है।

सच है, बंदर आदी का स्वाद क्या जाने। हमारे काव्य पर रीझनेवाले महाराज हैं, तू क्या रीझेगी! अब देखते न हैं तू कैसा काव्य पढ़ती है।

रानी—हाँ हाँ सखि विचक्षणे! हम लोगों के आगे तो तूने अपना बनाया काव्य कई बेर पढ़ा है, आज महाराज के सामने भी तो पढ़; क्योंकि विद्या वही जिसकी सभा में परीक्षा ली जाय और सोना वही जो कसौटी पर चढ़े और शस्त्र वही जो मैदान में निकले।

विच०—महारानी की जो आज्ञा। (पढ़ती है)

फूलेंगे पलास वन आगि सी लगाइ कूर,
कोकिल कुहुकि कल सबद सुनावैगो।
त्यौंही सखी लोक सबै गावैगो धमार धीर,
हरन अबीर बीर सब ही उड़ावैगो॥
सावधान होहु रे वियोगिनी सम्हारि तन,
अतन तनक ही मैं तापन तें तावैगो।
धीरज नसावत बढ़ावत बिरह काम,
कहर मचावत बसंत अब आवैगो॥

राजा—वाह वाह! सचमुच विचक्षणा बड़ी ही चतुर है और कविता-समुद्र के पार हो गई है। यह तो सब कवियों की राजा होने योग्य है।

रानी—(हँसकर) इसमें कुछ संदेह है। हमारी सखी सब कवियों की सिरताज तो हुई।

विदू०—(क्रोध से) तो महारानी स्पष्ट क्यों नहीं कहतीं कि यह दासी विचक्षणा बहुत अच्छी है और कपिंजल ब्राह्मण बहुत निकम्मा है !

विच०—हैं हैं ! एकबारगी इतने लाल-पीले हो गये ! जो जैसा है उसका गुण तो उसके काव्य ही से प्रगट हो गया। तुम्हारे काव्य की उपमा तो ठीक ऐसी है जैसे बड़े पेटवाली को कामदार कुरती, सिर-मुँडो को फूलों की चोटी और कानी को काजल।

विदू०—सच है, और तुम्हारी कविता ऐसी है जैसे सफेद फर्श पर गोबर का चोथ, सोने की सिकड़ो में लोहे की घंटी और दरियाई की अँगिया में मूँज की बखिया।

विच०—खफा मत हो, अपनी ओर देखो, आप आप ही हो। एक अक्षर नहीं जानते तिस पर भी हीरा तौलते हो और हम सब पढ़-लिखकर भी अब तक कपास ही तौलती हैं।

विदू०—बक-बक किये ही जायगी तो तेरा दहिना और बायाँ युधिष्ठिर का बड़ा भाई उखाड़ लेंगे।

विच०—और तुम भी जो टें-टें किये ही जाओगे तो तुम्हारी भी स्वर्ग काट के एक ओर की पोंछ की अनुप्रास मूड़ देंगे और लिखने की सामग्री मुँह में पोतकर पान के मसाले का टीका लगा देंगे।

राजा—मित्र ! इसके मुँह मत लगो, यह कविताई में बड़ी पक्की है।

विदू०—(क्रोध से) तो साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि हरिश्चंद्र और पद्माकर इसके आगे कुछ नहीं हैं।

[क्रोध करके इधर-उधर घूमता है]

विच०—चल उसी खूँटी पर लटक जिस पर मेरा लहँगा रखा है।

विदू०—(क्रोध करके और सिर हिला के) और तू भी वहाँ जा जहाँ मेरी बुड्ढी माँ के दाँत गये। छि: ! हम भी बड़े-बड़े दरबार से निकाले गये पर ऐसी अंधेर नगरी और चौपट राजा कहीं नहीं देखा। यहाँ चरणामृत और शराब एक ही बरतन में भरे जाते हैं।

विच०—भगवान् करे इस दरबार से तुझे वह मिले जो महादेवजी के सिर पर है और तुझे वह शास्त्र पढ़ाया जाय जो काँटों को मर्दन करता है।

विदू०—लौंडिया फिर टें-टें किये ही जाती है, खजाना लूट-लूट के खाली कर दिया इस पर भी मोढ़े पर बैठनेवाली और गलियों में मारी-मारी फिरनेवाली हम कुलीन ब्राह्मणों के मुँह लगती है। जा तुझको सर्वदा वही फाँकना पड़े जो महादेवजी अंग में पोतते हैं और तेरे हाथ सदा वही लगे जिसमें धरम बँधता है।

विच०—तेरे इस बोलने पर तो ऐसा जी चाहता है कि पान के बदले चरनदासजी से तेरा मुँह लाल कर दूँ। फिट !

विदू०—(बड़े क्रोध से ऊँचे स्वर से) ऐसे दरबार को दूर से ही नमस्कार करना चाहिए जहाँ लौंडियाँ पंडितों के मुँह आवें। यदि हमें इसी उचक्की की बात सहनी हो तो हम वसुंधरा नाम की अपनी ब्राह्मणी की ही न चरन-सेवा करें जो अच्छा-अच्छा और गर्म-गर्म खाने को खिलावे। (ऐसा कहता हुआ क्रोध से चला जाता है।)

[सब लोग हँसते हैं]

रानी—महाराज, कपिंजल बिना सभा ऐसी हो गई जैसे बिना काजल का शृंगार।

(नेपथ्य में)

नहीं नहीं, हम नहीं आवेंगे। विचक्षणा को खसम और राजा को मुसाहब कोई दूसरा खोज लो या आज से हमारा काम वही टूटी-कमर और चिपटे नाक-कानवाली करेगी।

विचक्षणा—महारानी! आपके आग्रह से यह कपिंजल और भी अकड़ा जाता है जैसे सन की गाँठ भिगोने से उलटी कड़ी होती है। उसको जाने दीजिए, इधर देखिए यह गँवा-रिनों के गीतों और चाँवर से मोहित सूर्य यद्यपि धीरे चलता है तो भी अब कितना पास आ गया है।

[विदूषक घबड़ाया हुआ आता है]

विदू०—आसन, आसन।

राजा—क्यों?

विदू०—भैरवानंदजी आते हैं।

राजा—क्या वही भैरवानंद जो आजकल के बड़े प्रसिद्ध सिद्ध हैं ?

विदू०—हाँ-हाँ ।

भैरवानंद आते हैं]

भैरवा०—जंत्र न मंत्र, न ज्ञान न ध्यान, न जोग न भोग, केवल गुरु का प्रसाद, पीने को मदिरा और खाने को मांस, मसान का बास, लाख-लाख दासी सब कड़ं-कड़ं अंग, सेवा में हाजिर रहें पीए मद्य भंग, भिच्छा का भोजन और चमड़े का बिछौना लंका-पलंका साता दीप नवा खंड गवना, ब्रह्मा विष्णु महेश पीर पैगम्वर जोगी जती सती वीर महावीर हनुमान् रावन महिरावन अकाश पताल जहाँ बाँधूँ तहाँ रहे, जो-जो कहूँ सो-सो करे, मेरी भक्ति गुरु की शक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाच, दोहाई पशुपतिनाथ की, दोहाई कामाच्चा की, दोहाई गोरखनाथ की ।

राजा – महाराज ! प्रणाम ।

भैरवा०—राजा ! विष्णु और ब्रह्मा तप करते थक गये पर सिद्धि मद्य और स्त्री में ही है यह महादेवजी ने ही जाना है सो वह कापालिकों के परम कुल-गुरु शिव तेरा कल्याण करें ।

राजा—महाराज, आसन पर विराजिए ।

भैरवा०—हम रमते लोगों को बैठने से क्या काम, तब भी तेरी खातिर से बैठते हैं । (बैठता है) बोल क्या दिखावें ?

राजा—महाराज, कुछ आश्चर्य दिखाइए ।

भैरवा०—क्या आश्चर्य दिखावें ?

सूरज बाँधूँ चंदर बाँधूँ बाँधूँ अगिन पताल।
सेस समुन्दर इंदर बाँधूँ और बाँधूँ जमकाल ।।
जच्छ रच्छ देवन की कन्या बल से लाऊँ बांध।
राजा इंदर का राज डोलाऊँ तो मैं सच्चा साधं ।।
नहीं तो जोगड़ा। और क्या।

राजा—(विदूषक के कान में) मित्र, तुमने कहीं कोई बड़ी सुंदरी स्त्री देखी हो तो बुलवावें।

विदू०—(स्मरण करके) हाँ ! दक्षिण देश में विदर्भ नामक नगर है। वहाँ मैंने एक लड़की सुंदर देखी थी वही बुलाई जाय।

भैरवा०—बोल। बुलाई जाय।

राजा—हाँ ! महाराज, पूर्णमासी का चंद्रमा पृथ्वी पर उतारा जाय।

भैरवा०—(ध्यान करता है)

(परदे के भीतर से खिंची हुई की भाँति एक सुंदर स्त्री आती है और सब लोग बड़ा ही आश्चर्य करते हैं।)

राजा—(आश्चर्य से) अहाहा ! जैसा रूप का खजाना खुल गया है, नेत्र कृतार्थ हो गये, यह रूप, यह जोवन, यह चितवन, यह भोलापन,—कुछ कहा नहीं जाता। मालूम होता है कि यह नहाकर बाल सुखा रही थी उसी समय पकड़ आई है। अहा धन्य है इसका रूप !!! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाले लेती है। इसकी सहज शोभा

इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है। अहा इसके कपड़े से जो पानी के बूँद टपकते हैं वे ऐसे मालूम होते हैं मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं। काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहावने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गये हैं। बाल हाथों में लिये है उससे पानी की बूँदें ऐसी टपकती हैं मानो चंद्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलों ने नागिनों को ऐसा दबाया है कि उनकी पोंछ से अमृत बहा जाता है। यह लजाकर सकपकानी सी भी हो रही है, और योगबल से खिंच आने से जो कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो-होकर भूले हुए मृगछौने की भाँति अपने चंचल नेत्र नचाती है।

स्त्री—(चकपकानी सी होकर एक-एक को देखती है, आप ही आप) यह कौन पुरुष है जिसकी देह गम्भीर और मधुर छवि का मानो पुंज है, निश्चय यह कोई महाराज है, और यह भी महादेव के अंग में पार्वती की भाँति निश्चय इसकी प्यारी महारानी है, और यह कोई बड़ा जोगी है। हो न हो यह सब इसी का खेल है। (विचार करके) यद्यपि यह एक स्त्री के बगल में बैठा है तौ भी मुझे ऐसी गहरी और तीखी दृष्टि से क्यों देखता है! (राजा की ओर देखती है)

राजा—(विदूषक के कान में) मित्र! अभी जो इसने अपने कानों को छूनेवाली चंचल चितवन से मुझे देखा तो ऐसा मालूम हुआ कि मानो मुझ पर किसी ने अमृत की पिच-

कारी चलाई वा कपूर बरसाया वा चाँदनी से एक साथ नहला दिया वा मोती का बुक्का छिड़क दिया।

विदू०—सच है, अहाहा! वाह रे इसके रूप की छवि। इसकी कमर एक लड़का भी अपनी मुट्ठी में पकड़ सकता है, और नेत्रों की चंचलता देखकर पुरुष क्या स्त्री भी मोह जाती है। देखो यद्यपि इसने स्नान के हेतु गहने उतार दिये हैं तो भी कैसी सुहानी दिखाई पड़ती है। सच्च है, सुन्दर रूप को तो गहना ऐसा है जैसा निर्मल जल को काई!

राजा—ठीक है, इसकी छवि तो आप ही कुंदन की निंदा करती है तो गहने से इसे क्या। इसका दुबला शरीर काम की परतंचा उतारी हुई कमान है, और इसके गोरे-गोरे गोल गालों में कनफूल की परछाहीं ऐसी दिखाती है जैसे चाँदी की थाली में भरे हुए मजीठ के रंग में चंद्रमा का प्रतिबिंब। इसके कर्णावलंबी नेत्र मेरे मन को अपनी ओर खींचे ही लेते हैं।

विदू०—(ँसकर) जाना जाना! बहुत बड़ाई मत करो।

राजा—(हँसकर) मित्र! हम कुछ झूठ नहीं कहते। तुम्हीं देखो, यह विना आभूषण भी अपने गुणों से भूषित है। जो स्त्रियाँ ऐसी सुंदर हैं उन पर पुरुष को आसक्त कराने में कामदेव को अपना धनुष नहीं चढ़ाना पड़ता। देखो, इसकी चितवन में मिठास के साथ स्नेह भी झलकता है। इसके कान में नीले कमल के फूल झूलते हुए ऐसे सुहाते हैं मानो चंद्रमा में से कलंक निकला जाता है।

रानी—अजी कपिंजल, इनसे पूछो तो यह कौन हैं या मैं ही पूछती हूँ। (स्त्री से) सुंदरो, यहाँ आओ, मेरे पास बैठो और कहो तुम कौन हो ?

राजा—आसन दो।

विदू०—यह मैंने अपना दुपट्टा बिछा दिया है, विराजो। (स्त्री बैठती है)

विदूषक—हाँ, अब कहो।

स्त्री—कुंतल देश में विदर्भ जो नगर है वहाँ की प्रजा का वल्लभ, वल्लभराज नामक राजा है।

रानी—(आप ही आप) वह तो मेरा मौसा है।

स्त्री—उसकी रानी का नाम शशिप्रभा है।

रानी—(आप ही आप) और यह तो मेरी मौसी का भी नाम है।

स्त्री—(आँख नीची करके) मैं उन्हीं की बेटी हूँ।

रानी—(आप ही आप) सच है, बिना शशिप्रभा के और ऐसी सुंदर लड़की किसकी होगी। सीप बिना मोती और कहाँ हो! (प्रगट) तो क्या कर्पूरमंजरी तुम्हीं हो ?

(स्त्री लाज से सिर झुकाकर चुप रह जाती है।)

रानी—तो आओ-आओ बहिन, मिल तो लें। (कर्पूर-मंजरी को गले लगाकर मिलती है।)

कर्पूरमंजरी—बहिन, यह आज हमारी पहली भेंट है।

रानी—भैरवानंदजी की कृपा से कर्पूरमंजरी का देखना हमें बड़ा ही अलभ्य लाभ हुआ। अब यह पंद्रह दिन तक यहीं रहे, फिर आप जोगबल से पहुँचा दीजिएगा।

भैरवा०—महारानी की जो इच्छा।

विदू०—मित्र! अब हम-तुम दो ही मनुष्य यहाँ बेगाने निकले, क्योंकि ये दोनों तो बहिन ही हैं और भैरवानंदजी इन दोनों के मिलानेवाले ठहरे। यह सरस्वती की दूसरी दूती भी एक प्रकार की रानी ही ठहरी, गये हम।

रानी—विचक्षणा! अपनी बड़ी बहिन सुलक्षणा से कह कि भैरवानंदजी की पूजा करके उनको यथायोग्य स्थान दे।

विच०—जो आज्ञा।

रानी—महाराज, अब हम महल में जाते हैं; क्योंकि बहिन को अभी कपड़ा पहराना और सिंगार करना है।

राजा—इसको सिंगार करना तो मानों चंपे के थाल में कस्तूरी भरना है, पर साँझ हो चुकी है अब हम भी तो चलते हैं।

[नेपथ्य में दो बैतालिक गाते हैं]

बै०—(राग गौरी) भई यह साँझ सबन सुखदाई।
मानिक गोलक सम दिनमनि मनु संपुट दियो छिपाई॥
अलसानी दृग मूँदि मूँदि कै कमललता मन भाई।
पच्छी निज निज चले बसेरन गावत काम बधाई॥

(जवनिका गिरती है)

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

---

(८) वीरवर बाप्पा रावल

ईदर के राजा नागादित्य को मारकर जब भीलों ने फिर अपना राज्य स्वाधीन किया तब बाप्पा तीन वर्ष का बालक था। उसके परिवार में महाकोलाहल मच गया। चारों ओर शत्रु—रक्षा कैसे हो ? क्या गहलौत वंश का आज नाश हो जायगा ? बचने की कोई आशा न थी, चारों ओर लोहू के प्यासे भील ही भील दिखाई पड़ते थे; किंतु ईश्वर निस्सहाय बालक का सहाय था, उसने उसकी रक्षा की। जिस कमलावती ने इनके मूल-पुरुष गोह की रक्षा की थी उसी के वंश के लोगों ने इसकी रक्षा पर भी कमर बाँधी। चाहे जो हो, वे बाप्पा की रक्षा अवश्य करेंगे : वे इनके कुल-पुरोहित थे। अपनी जान होमकर बाप्पा को ले सत्यपरायण ब्राह्मण लोग भाँडोर दुर्ग में आये; वहाँ एक यदुवंशी भील ने उन्हें आश्रय दिया, किंतु वहाँ भी अपने को सम्पूर्ण निरापद न जानकर वे पराशर वन में चले गये। उस वन में त्रिकूट पर्वत है। उसके नीचे नगेंद्र (जिसको नागौद कहते हैं) गाँव में वे शिवोपासक शांतिप्रिय ब्राह्मण बाप्पा को लेकर रहने लगे।

बाप्पा की लड़कई की बड़ी विचित्र-विचित्र बातें सुनने में आती हैं। बाप्पा उन ब्राह्मणों की गाय चराया करते थे। सूर्यवंशी महाराज शिलादित्य के वंशज चरवाहों का कार्य करने लगे। भाटों ने बाप्पा की लड़कई की बड़ी उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं। शारदीय झूलनोत्सव में राजपूताने में बड़ी

तैयारी और धूमधाम होती है। कहते हैं कि नागौद उस समय सोलंकी वंश के किसी राजा के हाथ में था; इस झूलनोत्सव में उनकी लड़की अपनी सखियों और नगर की लड़कियों के साथ खेलने के लिए कुंज वन में में आई थी; पर झलुआ डालने के लिए रस्सी न मिलने से वह इधर-उधर ढूँढ़ने लगी। उसी समय बाप्पा वहाँ आ गया। लड़कियों ने उससे रस्सी माँगी; पर बाप्पा ने बाल-चापल्य से तमाशा करने के लिए रुककर कहा—"तुम लोग जो हमसे विवाह करो तो हम अभी रस्सी ला दें।" भोली-भाली आनंदमयी राजपूत-बालिकाओं ने इस बात को मान लिया। उसी समय खेल में विवाह हो गया। राजकुमारी और बाप्पा की गाँठ जोड़ी गई और सब लड़कियों ने आपस में हाथ पकड़ एक शृंखलाबद्ध होकर एक बड़े पेड़ की फेरी दी। इसी घटना से बाप्पा के होनहार सौभाग्य का सूत्रपात हुआ। उन लड़कियों के वंशवाले आज तक अपने को बाप्पा के वंश में कहते हैं।

थोड़े दिन पीछे जब राजकुमारी विवाहने योग्य हुई तब राजा एक अच्छा वर ठहराकर ब्याह की तैयारी करने लगे। एक दिन लड़केवाले की ओर के एक सामुद्रिक ब्राह्मण ने राजकुमारी का हाथ देखकर कहा—"इसका विवाह तो हो चुका है।" इस आश्चर्य की बात से राज-भवन में बड़ी हलचल मच गई। यह विवाह किसने किया, कैसे हुआ, क्यों हुआ, कब हुआ—यह जानने के लिए गुप्तचर छूटे। बाप्पा को भी खबर

लगी। उसने सोचा कि तनिक सी बात खुलने से भी हम बड़ी आपत्ति में पड़ेंगे। इसलिए उसने अपने साथी चरवाहों को सावधान कर दिया; वे लोग उसकी जैसी भक्ति करते थे और उसे जैसा मानते थे उससे बात खुलने की कोई सम्भावना ही न थी, तिस पर भी बाप्पा ने उन लोगों से बड़ी कड़ी सौगंद ले ली कि वे रहस्य प्रगट न करें। सौगंद ऐसी ली कि एक छोटा सा कुआँ खोदकर, हाथ में एक छोटा पत्थर का टुकड़ा लेकर, वे बड़े गंभीर स्वर से बोले–"शपथ करो—सुख में, दुःख में, संपद में, विपद् में हमारे साथ रहोगे, मरने पर भी हमारी कोई बात किसी से न कहोगे; हमारे विषय में जो बात जहाँ सुनोगे उसी समय हमसे सब कहोगे; शपथ खाकर कहो, जो ऐसा न करो तो इसी पत्थर के टुकड़े की तरह तुम लोगों के बाप-दादा सात पुरुषों का सब पुण्य अँधेरे कुएँ में पड़ेगा।" बस, उन्होंने हाथ के पत्थर को उस कुएँ में फेंक दिया। साथियों ने एक-मत होकर कसम खाई। उन लोगों ने इसके विरुद्ध आचरण कभी नहीं किया; किंतु जिस घटना-सूत्र में कम से कम छः सौ राजपूत-बालाओं का भाग्य बँधा हुआ था वह कै दिन छिप सकता है? थोड़े दिन में आप ही राजा को सब बात विदित हो गई।

बाप्पा ने सब हाल सुना; वे विपदाशंका से पहाड़ के एक ऐसे प्रदेश में रहने लगे जहाँ कोई मनुष्य भी न था। इस निर्जन स्थान में कई बेर इनके पूर्वपुरुषों को आश्रय मिला था।

भागने के समय दो भील-कुमार—बालीय और देव—इनके साथ रहे। इन लोगों का जीवन बाप्पा के साथ जड़ा हुआ था। जब बाप्पा ने चित्तौर का राज्य लिया तब बालीय ने अपना अँगूठा चीरकर उसके ताजे लहू से उन्हें राजतिलक दिया।

बालीय और देव यद्यपि असभ्य कुल में उत्पन्न हुए थे, किंतु उन लोगों का हृदय जिस पवित्र भाव से भरा हुआ था उसने कितने सुसभ्य मनुष्यों के उज्ज्वल और ज्ञानालोकित हृदय में स्थान पाया है? वे लोग जैसा पवित्र चरित्र संसार में छोड़ गये हैं वैसा चरित्र कितने सुसभ्यों का हुआ है? उन लोगों ने जो प्रतिज्ञा की थी उसको पूरा-पूरा निवाहा। उस प्रतिज्ञा के लिए घर छोड़ा, कुटुंब छोड़ा, अपना सुख छोड़ा, सभी कुछ छोड़ा, कितनी बेर कितना कष्ट सहा, कितनी बेर उपवास किया, कितनी बेर रात-दिन जागते रहे और कितने ही असह्य क्लेश सहे; किंतु उन्होंने एक क्षण भी बाप्पा का संग नहीं छोड़ा, एक मुहूर्त्त भी वे अपनी प्रतिज्ञा को नहीं भूले। यदि बाप्पा को ऐसे जीवन-सहचर न मिलते तो उस अज्ञातवास से निकलकर चित्तौर के राज्य-सिंहासन पर उनका बैठना असम्भव था। बाप्पा भी अपने भील मित्रों का उपकार कभी न भूलते, अपने को उनके साथ से सुखी और सम्मानित समझते तथा कई प्रकार से कृतज्ञता प्रकाश करते। जिस दिन वीर-चूड़ामणि बाप्पा ने अपने भिल्ल बंधु बालीय और देव के हाथ से प्रफुल्लित हृदय से चित्तौर-राज्य-तिलक ग्रहण

किया उसी दिन से, उसी पवित्र आनंदमय दिन से, आज तक चित्तौर की राजगद्दी पर जो राणा बैठते हैं उनको इन्हीं के वंशधर तिलक करते हैं और ये लोग उनके हाथ से तिलक पाकर अपने को सम्मानित और गौरवान्वित मानते हैं।

भाट लोग बाप्पा के भागने का वृत्तांत यों लिखते हैं—बाप्पा नागौद में अपने प्रतिपालक ब्राह्मण की गाय चराने लगे। सूर्यवंशी महाराज शिलादित्य के वंश में होकर भी वे आनंद-पूर्वक गाय चराकर दिन बिताने लगे। इन गौओं में एक गाय दुधार थी; जब वह संझा को चराई से आती तब उसके थन से एक बूँद भी दूध न निकलता। ब्राह्मणों के जी में संदेह हुआ कि बाप्पा इसका दूध पी जाते हैं। वे लोग अत्यंत सावधानी से बाप्पा पर ध्यान रखने लगे। बाप्पा ने यह जान लिया। वे उन लोगों के इस संदेह से बड़े दुखी हुए। किंतु क्या करें ? जब तक इसका ठीक कारण जानकर न प्रकाश कर सकें उतने दिन मन का दुःख मन में ही रखना पड़ा। उन्होंने इस गाय पर विशेष ध्यान रखने का दृढ़ संकल्प किया। दूसरे दिन चराई पर जाकर बाप्पा उस गाय के पीछे घूमने लगे। गाय एक एकांत पहाड़ की गुफा में घुसी। बाप्पा भी पीछे-पीछे चले गये। अकस्मात् एक अद्भुत दृश्य दिखलाई पड़ा। देखा कि गाय एक सघन लतामंडल के ऊपर अविरल पयोधार अभिषिंचन कर रही है ! बाप्पा बड़े विस्मित हुए; पास जाकर देखा कि लतामंडल में एक शिवलिंग स्थापित है

और उसी शिवलिंग के ऊपर सुधामय दुग्धधारा गिर रही है ! अब बाप्पा ने जाना कि इसी से गाय का दूध घट जाता है। शिवलिंग के सामने बेत के एक कुंज में ध्यान में मग्न एक जोगी बैठे थे। उस स्थल में बाप्पा के जाने से जोगी का ध्यान भंग हो गया; किंतु दयासागर तपस्वी ने बाप्पा को कुछ भी न कहा। जोगी का नाम हारीत था, वे भी इस गाय का दूध पीते थे।

बाप्पा ने हारीत को साष्टांग प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद देकर परिचय माँगा। राजपूत-कुल-तिलक बाप्पा ने, जहाँ तक जानते थे, अकपट भाव से अपना हाल कह सुनाया। उस दिन मुनिवर हारीत से विदा होकर बाप्पा गाय लेकर घर आये। उस दिन से बाप्पा नित्य योगी के पास आते, उनके पैर धोते, चरणामृत लेते, दूध दुहकर पिलाते और पूजा के लिए फूल चुन लाते। बाप्पा की ऐसी अकपट भक्ति देख महात्मा हारीत चित्त से प्रसन्न हुए और उन्हें बहुत सी नीति-शिक्षा देने लगे। कुछ काल ऐसे ही बीता। मुनिवर धीरे-धीरे ऐसे संतुष्ट हुए कि उन्होंने शैव मंत्र में दीक्षित करके अपने हाथ से बाप्पा के गले में जनेऊ पहना दिया और उन्हें "एकलिंग के दीवान" की बड़ी भारी उपाधि दी। बाप्पा की अकपट भक्ति और स्नेहपूर्वक शिव-पूजा देखकर भगवती भवानी भी अत्यंत प्रसन्न हुईं। उन्हें आशीर्वाद देने के लिए वे स्वयं सिंह पर चढ़कर सामने आईं और उन्होंने अपने हाथ

से विश्वकर्मा के बनाये हुए शूल, धनुष, तीर, तूनीर, असि, चर्म और बड़ी तलवार इत्यादि उत्तमोत्तम शस्त्रों से बाप्पा को अलंकृत किया।[४] ऐसे आदिदेव भगवान् भूतनाथ के मंत्र से दीक्षित और भगवती भवानी के दिये हुए दिव्यास्त्रों से सुसज्जित होकर बाप्पा अत्यंत पराक्रमी हो गये। तब उनके गुरु महर्षि हारीत ने शिवलोक में जाने का दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने बाप्पा से सब समाचार कहा और स्वर्गारोहण के दिन बड़े तड़के बुलाया पर बाप्पा गाढ़ी नींद में सो जाने से ठीक समय पर वहाँ न पहुँच सके। वहाँ पहुँचकर बाप्पा ने देखा कि योगिराज हारीत अप्सरा-वाहित दीप्तिमय रथ पर चढ़कर आकाश में कुछ दूर जा चुके हैं। महर्षि ने अपने प्रिय शिष्य पर अंतिम प्रेम दिखलाने के लिए रथ को रोका और आशीर्वाद लेने के लिए बाप्पा को अपने पास आने को कहा। देखते-देखते अकस्मात् बाप्पा का शरीर बीस हाथ बढ़ गया; तिस पर भी वे गुरु के पास न पहुँच सके। तब मुनिवर ने मुँह खोलने को कहा। बाप्पा ने मुँह खोला। हारीत मुनि ने मुँह में निष्ठीवन डाला। किंतु बाप्पा भाग्यदोष से यह अमूल्य वर प्राप्त न कर सके। घृणा और अवज्ञा प्रकाश करके मुँह नीचे करने से वह पवित्र निष्ठीवन पैर पर गिर पड़ा। यदि बाप्पा घृणा से, गुरु के दिये हुए, स्नेहोपहार की अवमानना न करते तो अमर हो जाते; किंतु यह न हुआ। अमर तो न हो सके, पर देह सब अस्त्र-शस्त्र से अभेद्य हो गई। यह भी उनके लिए

कुछ थोड़े सौभाग्य का विषय नहीं था। इधर देखते-देखते हारीत थोड़ी देर में आकाशमंडल में अंतर्हित हो गये।

जिस दिन यह घटना हुई उसी दिन से बाप्पा ने मूल मंत्र साधने की प्रतिज्ञा की। उसी दिन से उनका भाग्य चमका। बाप्पा ने अपनी मा से सुना था कि चित्तौरगढ़ का मौर्य राजा इनका मामा है। इस संबंध के कारण बाप्पा अपने कार्य-साधन में दूने उत्साहित हुए। चरवाही करके जीने से उन्हें घृणा उत्पन्न हुई। थोड़े से साथी लेकर वे लोकालय में आये। बाप्पा ने आज पहले ही पहल भीड़-भाड़ देखी। मनुष्यों का वास-स्थान कैसा होता है, यह वे आज तक नहीं जानते थे। लोकालय का सौंदर्य देखकर वे और भी उत्साहित और उत्ते-जित हुए। जब दिन अच्छे फिरते हैं तब मिट्टी छूने से भी सोना हो जाती है। आज बाप्पा का भाग्य चमका है। जिधर जाते हैं उधर ही मंगल देख पड़ता है। वन से निकलते ही नाहरा मगरा पर्वत के नीचे सुप्रसिद्ध बाबा गोरखनाथ से उनकी भेंट हुई। गोरखनाथ ने इन्हें एक दोरुखी तलवार दी। मंत्र फूँककर इस तलवार से मारने से अनायास पहाड़ कटता है। बाप्पा की उन्नति का पथ पहले से ही परिष्कृत था; जो कुछ बाकी था सो आज पूरा हो गया। इस तलवार की पूजा राणा लोग हर बरस करते हैं।

प्रमर की एक शाखा मौर्य वंश है। इस समय ये लोग ही भारतवर्ष में सबसे बड़े राजा थे। बाप्पा जिस समय

चित्तौर में गये उस समय मानसिंह नामक मौर्यवंशीय राजा सिंहासन पर थे। महाराज मानसिंह ने अभ्यागत भानजे को यथोचित आदर से रखा और अपनी सामंत-मंडली में मिलाकर खाने-पहिरने के लिए उसे एक अच्छी जागीर दी। उस समय सामंत-प्रथा राजपूताने में बहुत प्रचलित थी। राजपूत सामंत लोग बड़ी-बड़ी जागीरें भोगते थे और लड़ाई के समय मानसिंह की सहायता के लिए अपनी-अपनी सेना लेकर आ जाते थे। पहले ये लोग राजा के विशेष भक्ति-भाजन थे और वे भी इन पर स्नेह रखते थे; पर जिस दिन से बाप्पा उनके प्रेमपात्र हुए उस दिन से मानसिंह सामंतों का ध्यान कम रखने लगे। उन लोगों ने समझा कि इसके मूल कारण बाप्पा ही हैं, इससे वे लोग इनके बड़े भारी शत्रु हो गये और उन्होंने सब तरह से इनका अनिष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

उसी समय एक विदेशी शत्रु ने चित्तौर पर चढ़ाई की। महाराज मानसिंह ने अपने सामंतों को लड़ने की आज्ञा दी; पर उन लोगों ने अपनी जागीरों के पट्टे बड़े घमंड से पटककर कहा—"महाराज ! अपने प्यारे बाप्पा को लड़ाई में भेजिए।" बाप्पा ने यह सब अपने कान से सुना पर इससे वे तनिक भी साहसहीन न हुए, वरंच उन्होंने दूने उत्साह के साथ उस देशवैरी पर अकेले चढ़ाई की। सामंतों ने मारे घमंड के जागीर तो छोड़ दी, पर लोकलाज के डर से लड़ाई में बाप्पा का साथ दिया। वीर-केशरी बाप्पा की तलवार की चोट

शत्रु लोग न सह सके, हारकर इधर-उधर भाग गये। उसी विजयी वेश से बाप्पा अपने बाप-दादा की राजधानी गजनी नगर में चले गये। गजनी उस समय सलीम नामक एक म्लेच्छ राजा के अधिकार में थी। बाप्पा उससे राज्य छीन-कर, सौरवंशीय एक सामंत को राज्य-सिंहासन पर बिठला-कर, चित्तौर लौट आये। कहते हैं कि इसी समय इन्होंने म्लेच्छ सलीम की लड़की से विवाह किया था।

जले-कुढ़े सामंत लोग मानसिंह से अत्यंत रुष्ट हो चित्तौर छोड़कर और कहीं चले गये। इससे राजा बड़े ही दुखी हुए। उन्होंने लौट आने के लिए उनके पास कई बेर दूत भेजा, पर वे लोग किसी तरह न फिरे। न तो रोषांध सामंत लोग किसी तरह शांत हुए और न उन्होंने विद्वेष भाव ही छोड़ा; यहाँ तक कि गुरु का कहना भी न माना। जो दूत मनाने के लिए गया था उससे उन लोगों ने कहा—"हम लोगों ने उनका निमक खाया है इससे एक बरस कुछ वदला न लेंगे।" अब वे अपनी नीच दुराकांक्षा को सिद्ध करने के लिए एक उपयुक्त अधिनायक खोजने लगे। जिस बाप्पा के कारण उन लोगों की यह दशा हुई अंत में उसी को, उसके अलौकिक शौर्य और गुण-गौरव से, लाचार होकर उन लोगों को अपना सरदार बनाना पड़ा। अहा! राज्य का लोभ कैसा भयानक होता है! धन के लोभ में पड़कर मनुष्य को भले-बुरे का ध्यान नहीं रहता। परम उपकारी बंधु का

५

ध्यान नहीं रहता। बाप-बेटे का ध्यान नहीं रहता। धर्म का ध्यान नहीं रहता। केवल एक धन का ध्यान रहता है! बाप्पा की भी वही दशा हुई। जो मानसिंह इनके मामा थे, जिनके अनुग्रह से इनकी उन्नति का द्वार खुल गया, जो इन्हीं के कारण अपने सामंतों के विद्वेषानल में पड़े, अंत में बाप्पा उनके सब उपकारों को भूलकर, पत्थर सा कलेजा करके, वीर-धर्म को तिलांजलि देकर उन्हें मार उन्हीं सामंतों की सहायता से सिंहासन पर आप बैठ गये! सिंहासन पर बैठने पर सब लोगों ने एक-मत होकर इन्हें "हिंदू-सूर्य", "राजगुरु" और "चक्कवै" अर्थात् सार्वभौम की उपाधि दी

वीरवर बाप्पा अपनी मातृभूमि, लड़के-बाले और घर-कुटुम्ब सब छोड़कर खुरासान चले गये। उसे जीतकर उन्होंने बहुत सी म्लेच्छ स्त्रियों से विवाह किया। इन लोगों के गर्भ से लड़के-लड़कियाँ हुईं।

पूरे एक सौ वर्ष की अवस्था में वीरकुल-तिलक बाप्पा ने मनुष्य-देह छोड़ी। देलवारा के राजा के पास एक पुराना इतिहास है। उसमें लिखा है कि बाप्पा ने इस्पहान, कंधार, काश्मीर, इराक, तूरान और काफिरस्तान, इत्यादि देशों के राजाओं को जीतकर उनकी लड़कियाँ ब्याही थीं और अंत में तपस्वी होकर सुमेरु के नीचे अपना शेष जीवन बिताया था। कहते हैं कि वहाँ उन्होंने जीते जी समाधि ली थी। इन म्लेच्छ स्त्रियों से बाप्पा को एक सौ तीस लड़के हुए। वे

सब नौशेरा पठान नाम से प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने अपनी-अपनी मा के नाम पर एक-एक स्वतंत्र वंश चलाया था। वाप्पा की हिंदू स्त्रियों के गर्भ से सब मिलाके अट्ठानवे लड़के हुए थे। ये सब "अग्नि-उपासी सूर्यवंशी" नाम से प्रसिद्ध हैं।

भट्टा ग्रंथ में एक और भी विचित्र बात लिखी है। कहते हैं कि वाप्पा के मरने पर उनके हिंदू और म्लेच्छ संतानों में बड़ा झगड़ा उठा। हिंदू लोग उन्हें जलाने को कहते थे और मुसलमान लोग कब्र में गाड़ना चाहते थे। इसका पचड़ा बड़ी देर तक पड़ा रहा, कुछ तय ही न हो; अंत में वाप्पा के शरीर पर का कपड़ा उठाकर देखा गया तो शरीर के बदले श्वेत कमल के फूल मिले! ये फूल वहाँ से निकालकर मानसरोवर में लगाये गये। पारसी वीर नौशेरवाँ का भी यही हाल सुना जाता है।

—राधाकृष्णदास

---

(८) सफलता-रहस्य

अपने-अपने उद्योग में सभी कृतकार्य होने की आकांक्षा रखते हैं; परंतु ऐसे पुरुषों की संख्या अत्यल्प देख पड़ती है जो यह जानते हैं कि सफलता की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है। प्रायः देखने में आता है कि अधिक प्रयत्न और परिश्रम करने पर भी अनेक लोगों को अपने कार्य में साफल्य नहीं

प्राप्त होता। इससे वे हताश होकर बैठ रहते हैं और अपने भाग्य को दोषी ठहराने लगते हैं। पर क्या इससे यह अनुमान कर लेना उचित है कि ऐसे लोगों में कार्य-संपादन की क्षमता ही नहीं है? क्या वे संसार के कार्य के अयोग्य हैं? नहीं, ऐसा विचार ठीक नहीं। प्रकृति ने उदारता-पूर्वक प्रत्येक प्राणी को इस जगत् में उसके अनुकूल कार्य करने योग्य बनाया है। जब-जब मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल काम करता है तब-तब सफलता देवी सदैव उसका संवरण करती है।

प्रकृति की असीम कृपा से मनुष्य के मस्तिष्क में कई केंद्र बने हुए हैं और मन की शक्तियाँ अपने-अपने केंद्र में सदैव संचलन करती रहती हैं। इसी संचलन का प्रभाव मनुष्य के कार्यों पर पड़ता है। मनुष्य के सिर में कुछ स्थान उन्नत और कुछ अवनत देख पड़ते हैं। उन्हीं के द्वारा यह ज्ञात होता है कि उसमें कौन-कौन मानसिक शक्तियाँ प्रबल और कौन-कौन अबल हैं।

मानसिक शक्तियों के अनुकूल किया गया उद्योग उत्साह-वर्द्धक और आनंदजनक होता है। इस नियम के विपर्य्यय से परिणाम भी विपरीत होता है।

अतः सफलता का रहस्य यही है कि जो काम मनुष्य करे, अपनी मानसिक शक्तियों और रुचि के अनुकूल करे। ऐसा एक भी मनुष्य नहीं जो संसार में कुछ न कुछ लाभकारी

कार्य्य न कर सकता हो। और ऐसा भी कोई मनुष्य नहीं जिसके लिए संसार में एक न एक उचित स्थान न हो। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों के अनुकूल स्थान ग्रहण कर ले तो संभवतः इस उलाहने की आवश्यकता ही न रहे कि हमें औरों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इससे अशांति और कलह की बहुत कम संभावना हो, क्योंकि जीवन के निश्चित कार्य्य में जब आनंद प्राप्त होने लगता है तब उसके अतिरिक्त और किसी विषय की ओर मनुष्य का ध्यान कभी आकृष्ट ही नहीं होता।

सबकी मानसिक शक्तियाँ एक सी नहीं होतीं। किसी में कोई शक्ति अधिक रहती है और किसी में कोई। जैसे प्रत्येक मनुष्य के रंग-रूप और अंगों के आकार में भेद होता है वैसे ही मानसिक शक्तियों में भी भेद होता है। इसी सिद्धांत को सामने रखकर यदि जीवन के कार्य्यों का संपादन किया जाय तो संसार से दुःखों का तिरोभाव ही हो जाय। इस सिद्धांत के अनुकूल अपनी समग्र शक्तियाँ किसी उद्योग में लगा देने पर सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी।

माता-पिता अपने बच्चों के लिए मनमाने कार्य्य सोच रखते हैं और उन्हें उसी ओर प्रवृत्त कराते हैं। कोई कहता है—"मेरा बच्चा यदि वकालत पास कर ले तो बड़ी अच्छी बात हो"। कोई इस विचार में है—"यदि मेरा लड़का डाक्टर हो जाय तो ख़ूब रुपया कमाय"। इसी प्रकार की कल्पनाएँ

माता-पिताओं के हृदयों में उठा करती हैं। वे उन्हीं कल्पनाओं को कार्य में परिणत करने का यथासाध्य उपाय करते रहते हैं। पर जब असफलता होने लगती है तब झट दैव को दोष देने लगते हैं। यह उनकी सर्वथा भूल है। बच्चों की प्रवृत्ति को तो वे देखते ही नहीं, उन्हें सफलता प्राप्त हो तो कैसे हो।

शरीर की पुष्टि के लिए भोजन इत्यादि के संबंध में तो बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने बड़ी-बड़ी बातें लिख डाली हैं और बड़े-बड़े नियम भी बना दिये हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार भोजन करने और प्रकृति के विपरीत कुछ भी न खाने पर भी बड़ा जोर दिया है। उनकी यह भी राय है कि सबके लिए एक ही प्रकार का भोजन फलप्रद होने के स्थान में साधारणतः हानिकारक होता है। पर इन विद्वज्जनों ने यह कहीं नहीं बताया कि प्रत्येक मन के लिए भी एक ही प्रकार का भोजन उचित है या नहीं। हाँ, कुछ काल से डाक्टर गाल और डाक्टर स्पर्जहीम इत्यादि विदेशी पंडितों के उद्भावित विचारों की विवेचना अवश्य हो रही है। उनसे अमेरिका और इँगलैंड आदि देशों ने यथासाध्य लाभ उठाना भी आरंभ कर दिया है। वास्तव में इन महानुभावों के विचारों से संसार का बहुत कुछ उपकार होने की संभावना है।

मस्तिष्क-विज्ञानवेत्ता पंडितों का मत है कि न्यूनाधिक परिमाण में मनुष्य सभी शक्तियाँ रखता है। वह अपनी अल्प शक्तियों को उन्नति की पराकाष्ठा तक ले जा सकता है।

संसार में कोई ऐसा कार्य नहीं है जो उससे न हो सके। हाँ, समय और अवसर अवश्य चाहिए। धीरे-धीरे सावधानी के साथ सभी कार्य हो सकते हैं। मनुष्य का भाग्य अपने ही हाथ में है। मनुष्य भाग्य के हाथ में नहीं। अमुक मनुष्य कौन-कौन काम कर सकता है? उसका चरित्र कैसा है? वह सुधर सकता है या नहीं? कौन सा कार्य उसके लिए उपयुक्त है, कौन सा अनुपयुक्त? कैसे और कितने समय में उसकी मानसिक शक्तियाँ अपने पूर्ण रूप में विकसित हो सकती हैं? संसार में उसे कैसे साफल्य प्राप्त हो सकता है? इत्यादि सभी उपयोगी बातें मस्तिष्क-विज्ञान से जानी जा सकती हैं। यह विज्ञान सार्वजनिक और सार्वभौमिक है। प्रत्येक ग्राम, नगर और देश में इसकी सहायता से कार्य होना चाहिए। इसके अनुसार कार्य होने से कदापि असफलता नहीं हो सकती।

संसार की सांप्रतिक गति को देखते हुए स्पष्टता-पूर्वक विदित होता है कि प्राकृतिक नियमों के अनुसार कार्य न होने के कारण ही बड़े-बड़े उपद्रव होते हैं, बड़ी-बड़ी हानियाँ भी होती हैं। मस्तिष्क-विज्ञान के नियम सरल और अटल हैं। प्रत्येक जीवन-कार्य, विशेषतः शिक्षण-कार्य, में उसकी सहायता से मनुष्य चमत्कारिक लाभ उठा सकता है।

कुछ अंशों में अमेरिका ने अपनी शिक्षा-प्रणाली इसी विज्ञान के नियमानुसार संगठित की है और उससे विशेष

लाभ का अनुभव भी किया है। आशा है, समय पाकर, सभी देश इससे लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे।

मस्तिष्क मन की इंद्रिय है। उसमें मन अपने कार्य करता रहता है। मन की अनेक शक्तियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक के लिए मस्तिष्क में स्थान निश्चित हैं। जब मन की कोई विशेष शक्ति काम करती है तब उसके मस्तिष्कवाले स्थान में एक प्रकार का संचालन सा होने लगता है, जिससे उक्त कार्य करने की क्षमता का प्रादुर्भाव होता है। शारीरिक अथवा मानसिक कोई कार्य ऐसा नहीं जो इस संचालन-द्वारा न होता हो। मज्जा-तंतुओं का संबंध शरीर की सभी नसों से रहता है। मन जब कोई कार्य संपादन करना या कराना चाहता है तब पहले मज्जा-तंतुओं में संचालन उत्पन्न करता है। इस संचालन से समग्र शारीरिक स्नायुओं में संचालन होने लगता है। ये संचालन जब रुचिकर होते हैं तब काम करने में आनंद मिलता है और सफलता की झलक दिखाई देने लगती है। बिना हितकर संचालन के सफलता और आनंद की प्राप्ति असंभव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। इसे ही सफलता का रहस्य समझिए। नेपोलियन बोनापार्ट ने एक दफे कहा था कि संसार में कोई कार्य ऐसा नहीं जिसे मनुष्य न कर सकता हो। है भी यही बात। पर, शक्ति अवश्यमेव होनी चाहिए। मनुष्य की मस्तिष्क-संबंधी शक्तियों को हम नौ पुंजों में विभक्त कर सकते हैं, अर्थात्—

(१) जीवन-प्रेम (२) कार्यपरता (३) पदार्थों से प्राप्त आनंद का ज्ञान (४) प्राप्ति की इच्छा। इन चार शक्तियों से पहला पुंज बना है।

(५) स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम (६) प्रेम-परायणता (७) स्नेह (८) देश-प्रेम (९) मित्रता (१०) स्थिरता। इन शक्तियों से दूसरा पुंज बनता है।

(११) साहस (१२) रहस्य-रक्षा (१३) सावधानी (१४) सौंदर्योपासना। यह तीसरा पुंज है।

(१५) आविष्कार (१६) निर्माण-कौशल (१७) नकल। यह चौथा पुंज है।

(१८) ध्वनि-ज्ञान (१९) अंक-ज्ञान (२०) किसी बात का व्योरा जानने की उत्कंठा (२१) वर्ण-ज्ञान (२२) आकर्षण-ज्ञान (२३) आकार-ज्ञान (२४) रूप-भेद (२५) सुंदर वाणी। यह पाँचवाँ पुंज है।

(२६) ध्यान (२७) तात्कालिक ज्ञान (२८) स्थान-ज्ञान (२९) काल-ज्ञान। यह छठा पुंज है।

(३०) विचार-भेद-ज्ञान (३१) कारण-ज्ञान (३२) सादृश्य-ज्ञान (३३) भविष्यद्-ज्ञान। यह सातवाँ पुंज है।

(३४) दया (३५) नम्र-भाव (३६) अंध-विश्वास (३७) आशा (३८) श्रद्धा। यह आठवाँ पुंज है।

(३९) बुद्धिवाद (४०) बराबरी करने की इच्छा (४१) आत्म-सम्मान (४२) दृढ़ संकल्प-शक्ति। यह नवाँ पुंज है।

ये शक्तियाँ कितनी महत्त्व-पूर्ण—कितनी लाभकारिणी—हैं और इनके विकास से जगत् का कितना उपकार हो सकता है, इसे विचारशील पुरुष सहज ही में समझ सकते हैं। इनका विकास नव जीवन का संचार करके जातीय प्रेम, जातीय संगठन और जातीय सम्मान आदि गुण उत्पन्न करके सुख और आनंद की इतनी सामग्री प्रस्तुत कर सकता है जिसका कुछ हिसाब नहीं। इस पवित्र भूमि की सांप्रतिक स्थिति यही चाहती भी है। सत्यव्रत, दृढ़संकल्प, भगवत्परायण, कृपालु और कर्म्मवीर पुरुषों की ही इस समय बड़ी आवश्यकता है।

संसार में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार अवश्य ही दूसरों का आश्रित रहता है। यह अवलंब अनिवार्य्य है। दूकानदार, मजदूर, वकील, बैरिस्टर, मास्टर, लेखक इत्यादि सभी एक दूसरे से कुछ न कुछ लाभ उठाते हैं। सभी एक दूसरे की सहायता पर अवलंबित हैं। फिर क्यों न ऐसा प्रबंध हो जिससे यह अनिवार्य्य सहायता अधिक फलप्रद हो सके? इसके लिए पारस्परिक प्रेम की आवश्यकता है और यह प्रेम-भाव तब तक नहीं उत्पन्न हो सकता जब तक कि यह स्पष्ट रूप से विदित न हो जायगा कि संसार में, किसी न किसी प्रकार, सभी एक दूसरे पर अवलंबित हैं। जब इसका निश्चय हो जायगा तब प्रेम और सहानुभूति की अवश्य ही उत्पत्ति होगी। तब अनायास ही मन में एक दूसरे को सहायता

पहुँचाने की इच्छा होने लगेगी। तभी मस्तिष्क-विज्ञान भी समुचित रीति से कार्य्य में परिणत हो सकेगा।

प्रकृति सदैव उन्नतिशील है। उसकी गति की सहायता करना कल्याणकर और उसका प्रतिरोध करना हानिकर होता है। इसलिए मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है कि सदैव अभ्युदय और उन्नति पर ताक लगाये रहे। मस्तिष्क-विज्ञान के सिद्धांत सफलता और आनंददान के सूचक हैं। उन्हें एक प्रकार का मंत्र समझ लीजिए। उनकी सिद्धि समाज ही के हाथ में है। यह कार्य्य किसी एक व्यक्ति का नहीं। अकेले बैठकर किसी व्यक्ति से कोई बड़ा काम न आज तक हुआ है, न होगा। जब हुआ है तब सहकारिता से ही हुआ है। संसार की शोचनीय और हृदय-विदारक अवस्था पुकार-पुकारकर कह रही है कि अब भी चेतो, वृथा समय न नष्ट करो। सहकारिता से ही उन्नति कर सकोगे, अन्यथा नहीं। संसार की सांप्रतिक स्थिति से यह भी ज्ञात होता है कि यथार्थ मानुषिक शक्तियाँ किस सीमा तक क्षीण हो गई हैं और कौन-कौन से दुर्गुण मनुष्यों में आ गये हैं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार शिक्षा प्राप्त करके यदि हम लोग सफलता के रहस्यों को कार्य में परिणत करने लगें तो सारी दुरवस्था दूर हो जाय।

—एल० सी० वर्मन

---

(१०) मिलन

(१)

राधाकांत मुकर्जी के उद्योग से ब्राह्म-महाविद्यालय जब से खुला है तब से कानपुर के बालक और बालिकाएँ उसमें एक ही साथ पढ़ने का स्वर्गीय आनंद पाने लगे हैं। बालिकाओं और बालकों का प्रेम भी कैसा निर्मल है। उसमें स्वार्थ की गंध भी नहीं; इंद्रिय-संभोग-जन्य सुख का लेश भी नहीं। वह निर्मल प्रेम है; वह शुद्ध प्रेम है। उसमें प्रेम के सिवा और कुछ नहीं। पर, अभागे भारत के विद्यार्थियों के जीवन में तो वह प्रेम बदा ही नहीं। इसी लिए वे बड़े होने पर शुद्ध प्रेम से वंचित रह जाते हैं। वे शुद्ध प्रेम का अनुमान ही नहीं कर सकते। यह बड़े ही संताप की बात है।

पूर्वोक्त महाविद्यालय में कोई तीस लड़के और इतनी ही लड़कियाँ हैं। सबकी उम्र दस साल के अंदर है। उन्हीं में एक लड़का रामानंद है। वह गजब का तेज है। किताब रटते कभी किसी ने उसे नहीं देखा। पर परीक्षा-फल सुनाने के दिन सबसे पहले उसी का नाम सब सुना करते हैं। रामानंद और मोहिनी, जो पंडित देवधर इंजीनियर की एकमात्र लड़की है, साथ-साथ पढ़ने आया करते और साथ ही साथ जाया करते हैं। दोनों एक ही क्लास में हैं। अपने क्लास में रामानंद प्रथम और मोहिनी सदा द्वितीय रहा करती है। इस समय इनकी अवस्था कोई दस वर्ष की है। रामानंद

गरीब बाप का लड़का है। यद्यपि उसके शरीर पर रेशम के कपड़े और पाँव में डासन के जूते किसी ने नहीं देखे, पर उसका गबरून का कोट और हिंदुस्तानी जूता कभी मैला और टूटा हुआ भी नहीं देखा गया। रामानंद के पिता बहुत ईमानदार हैं। कमसरियट में नौकर हैं। अपने एकमात्र पुत्र रामानंद की बुद्धि-प्रखरता और संयम-शीलता देखकर वे मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया करते हैं और अपने भविष्य का चमकीला भाग्य ध्यान में ला-लाकर बहुत सुखी हुआ करते हैं।

तीन वर्ष गुजर गये। जून का महीना है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा के फल का इंतजार हो रहा है। विद्यालय बंद है। छात्रालय में रहनेवाले विद्यार्थी अपने-अपने घर चले गये हैं। पर जो जहाँ है, गजट की प्रतीक्षा में है। रामानंद और मोहिनी ने भी प्रवेशिका-परीक्षा दी है। पर इन दोनों को, परीक्षा-फल जानने के लिए, कभी किसी ने विशेष व्यग्र नहीं देखा। रामानंद रोज शाम को मोहिनी के बँगले पर जाया करता है और उसके साथ मिलकर काव्यालोचना और साहित्य-चर्चा किया करता है। रामानंद शहर में रहता है। मोहिनी के पिता १२००) मासिक तनख्वाह पाते हैं। इसलिए वे बड़े ठाठ से शहर के बाहर एक बहुत ही बढ़िया बँगले में रहते हैं। मोहिनी कभी-कभी अपनी पैर-गाड़ी पर रामानंद के घर

आया करती है। पर उसका आना नैमित्तिक है और रामानंद का जाना नैत्यिक।

११ जून को तीसरे पहर रामानंद अपने कमरे में बैठा हुआ खड़ी बोली की एक कविता पढ़ रहा था कि इतने में पैरगाड़ी की घंटी की आवाज उसके कानों में पड़ी। रामानंद का मकान लबे-सड़क था। सुबह से शाम तक सैकड़ों पैरगाड़ियाँ उस सड़क से निकला करती थीं। उनकी घंटियों की टनटनाहट से वह कभी-कभी बहुत तंग आ जाता था। पर, आज की घंटी की आवाज उसको अपनी हृदय-तंत्री की आवाज के साथ कुछ ऐसी मिली हुई मालूम हुई कि उसका चित्त एकदम उस मृदु-मधुर टनटनाहट की ओर खिंच गया। इस बात को लिखने में और पाठकों के पढ़ने में जरूर दो-चार सेकंड लगेंगे, पर, मानसिक जगत् में यह व्यापार सेकंड के कितने हजारवें हिस्से में घटित हो गया, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। जब रामानंद ने देखा कि वह पैरगाड़ी उसी के द्वार पर रुक गई तब उसकी उत्कंठा और भी बढ़ गई। आवाज से उसने पहचान लिया कि यह सिवा मोहिनी के और कोई नहीं। इतने में मोहिनी उसके कमरे में आ गई—

"मोहिनी, कुशल तो है? इस समय क्यों कष्ट किया?"

"रामी, बड़ा ही शुभ समाचार सुनाने आई हूँ। पर इसका मिहनताना क्या दोगे? पहले यह बताओ तो सुनाऊँ।"

"मोहिनी, मिहनताने में मुझ गरीब के पास है ही क्या, जो तुम लक्ष्मी-स्वरूपिणी की भेट करूँ ? यह शरीर और यह मन भी मेरा—"

बात समाप्त न हुई थी कि मोहिनी ने तार का एक लिफाफा रामानंद के हाथ में दे दिया और स्त्री-जन-सुलभ मुसकराहट के साथ कहा—"अच्छा न सही, लो इसे पढ़ो"

रामानंद ने तार को लिफाफे से निकालकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

Allahabad.

Ramanand and Mohini stood first and second in matriculation. My best congratulations.

Radha Krishna.

तार पढ़कर रामानंद ने कहा—आपको बधाई है।

मोहिनी ने हँसते हुए जवाब दिया—और आपको भी।

इसके बाद देर तक वे दोनों अपनी कालेज-शिक्षा के विषय में बातचीत करते रहे।

(२)

"मेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और।"

रामानंद और मोहिनी कालेज में एक साथ पढ़ने के स्वप्न देख रहे थे कि इतने ही में रामानंद के पिता को बंगाल

जाने के लिए जरूरी हुक्म मिला। रामानंद को छोड़कर पंडित शिवानंद जाना पसंद न करते थे। वे पढ़ने के लिए भी संतान को आँख से ओझल न करने के हिंदुस्तानी मोह में बेतरह जकड़े हुए थे। रामानंद ने यह समाचार अपनी बालपन की सहपाठिनी मोहिनी को सुनाया तो वह अवाक् हो गई। अंत में वे दोनों, जो आज तक मिले हुए थे, जुदा हुए और उनके बीच में सैकड़ों कोस का व्यवधान हो गया। शिवानंदजी कलकत्ते में एक खास काम पर तैनात हुए वहाँ जाकर उनका भाग्य चमका। छोटी सी ५०) रुपये की तनख्वाह से एकदम उनकी तनख्वाह १५०) मासिक हो गई। राय साहब का खिताब भी उन्हें मिला। उधर कलकत्ते के एक कालेज में दाखिल होकर रामानंद ने भी अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय होनहार बंगाली नवयुवकों के साथ बैठकर देना शुरू किया। मोहिनी के पत्र बराबर रामानंद और रामानंद के पत्र बराबर मोहिनी के पास जाया करते थे। पर, न मालूम क्या घटना घटी कि एक दिन शिवानंद अपने प्रिय पुत्र रामानंद के हाथ में मोहिनी के पिता पंडित देवधर का एक पत्र देकर यह कहते हुए चले गये—"बेटा, इसमें जो आज्ञा दी गई है उसका पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है"।

रामानंद ने पत्र खोला। उसमें लिखा था—"कुछ विशेष कारणों से मैं मोहिनी और रामानंद का पत्र-व्यवहार जारी रखना उचित नहीं समझता। मोहिनी से मैंने मना

कर दिया है कि वह कोई पत्र भैया रामानंद को न लिखे। आप भी कृपा करके रामानंद को आज्ञा दे दीजिए कि वह कोई पत्र भविष्य में मोहिनी को न लिखे। मुझे पूर्ण आशा है कि आपकी आज्ञा को वेदवाक्य समझनेवाला रामानंद आयंदा कोई पत्र उसको न लिखेगा।

इन पंक्तियों को पढ़कर रामानंद सन्नाटे में आ गया। उसका शरीर चक्कर खाने लगा। वह आरामकुर्सी पर चुपचाप लेट गया।

इस घटना को हुए चार वर्ष गुजर गये। कलकत्ता-विश्वविद्यालय का परीक्षाफल अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। बी० ए० में सबसे पहला नाम रामानंद चतुर्वेदी का है। वाइस-चैंसेलर ने अपनी स्पीच में भी इस होनहार नवयुवक की बड़ी प्रशंसा की है। यह पहला अवसर है कि दूसरे प्रांत का नवयुवक कलकत्ते के विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में पहले नंबर पर पास हुआ है।

रामानंद के बी० ए० होते ही भारत-सरकार ने सिविल सर्विस की तैयारी के लिए उसे यथा-नियम छात्र-वृत्ति दी। पर, शिवानंद नहीं चाहते कि रामानंद जहाज पर पाँव रख-कर सामाजिक बंधन छिन्न करे। इस बात का पता जब कमसरियट के बड़े अफसर को लगा तब उसने शिवानंद को बुलाया और उन्हें बहुत समझाया। उसने कहा, इसमें तुम्हें अकारण हठ न करना चाहिए। पुत्र की उन्नति, अफसर का

कहना, योरुप से लौटकर भारत में कलक्टरी मिलने का लोभ—इन सब बातों ने मिलकर शिवानंद के भोले और धर्म-भाव-पूर्ण मन पर विजय प्राप्त की।

रामानंद को हिंदी से बड़ा प्रेम था। समय मिलने पर वह हिंदी के उत्तमोत्तम ग्रंथ पढ़ता और समाचारपत्रों में सबसे पहले हिंदी के अखबार देखा करता था। हिंदी की गरीबी पर वह दुखी था। ज्यों-ज्यों वह अन्य भाषाओं के ग्रंथ पढ़ता त्यों-त्यों उसके मन में हिंदी की हीनता का संताप अधिक होता जाता। जिस अच्छे ग्रंथ को वह पढ़ता उसका आशय थोड़े में हिंदी में लिखने की उसकी आदत पड़ गई थी। इस तरह लिखते-लिखते उसके पास बीसियों कापियाँ भर गई थीं। विलायत जाते समय जरूरी असबाब के साथ हिंदी की कापियों का एक पुलिंदा भी उसने रख लिया। रामानंद को खड़ी बोली की कविता से विशेष प्रेम था। वह स्वयं भी कविता लिखता था। पर, किसी पत्र में अभी तक उसकी एक पंक्ति भी न छपी थी। हाँ, ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का व्यर्थ झगड़ा जब उठा था तब उसने कल्पित नाम देकर अनेक युक्ति-पूर्ण लेख, खड़ी बोली के पक्ष में, लिखे थे। उस समय हिंदी-साहित्य-सेवियों के मन में इस "बार्हस्पत्य" का परिचय पाने की बड़ी लालसा उत्पन्न हुई थी। पर रामानंद ने पहले ही संपादक से इकरार करा लिया था कि किसी तरह भी मैं तुम्हारा नाम न प्रकट करूँगा।

इँगलैंड की स्वतंत्रता-सूचक वायु के पहले ही झोंके ने रामानंद के मस्तिष्क को देशहित के विचारों से भर दिया। उसने यह बात खूब अच्छी तरह जान ली कि बिना मातृभाषा की उन्नति के देश की यथार्थ उन्नति होना संभव नहीं। अतएव उसने अपने हिंदी के बस्ते को निकाला। फिर उसने विविध विषयों पर पढ़ी हुई अनेक पुस्तकों का सारांश भिन्न-भिन्न लेखों की शक्ल में लिखना शुरू किया। रामानंद को दो ही काम थे। आई० सी० एस० (I. C. S.) की पाठ्य पुस्तकें पढ़ना और हिंदी-लेख लिखना। सिर्फ इन दो कामों में लीन रामानंद लंदन में इस तरह रहने लगा जैसे कोई जंगल में रहता हो। थोड़े ही दिनों के परिश्रम से उसने कोई २५ लेख लिखकर तैयार कर लिये। एक दिन उसने उन सबका एक पुलिंदा बना-कर हिंदी की सर्वोत्तम मासिक पत्रिका "वैजयंती" के संपादक के नाम भेज दिया। ये लेख जो क्रमपूर्वक "भ्रमर" के नाम से "वैजयंती" में छपे तो उसके हजारों नये ग्राहक हो गये। घर-घर चाव से ये लेख पढ़े जाने लगे। जिन विषयों का गुमान भी हिंदी-पाठकों को न था उन शास्त्रीय विषयों पर सुविस्तृत लेख पढ़कर हिंदी-हितैषी "भ्रमर" की विद्वत्ता, योग्यता, सार-ग्राहिता और लेखन-चातुर्य पर लोग मुग्ध हो गये।

कुछ समय बाद रामानंद ने एक छोटा सा खंड-काव्य लिखा। उसमें उसने एक बड़ी मनोमोहक कहानी, खड़ी

बोली में, पद्य-बद्ध की। जिस समय यह काव्य "वैजयंती" में निकला उस समय हिंदी-जगत् में खलबली मच गई। यह काव्य उन दोषों से बिलकुल शून्य था जिनको खड़ी बोली के विरोधी खड़ी बोली के काव्य के लाजिमी दोष कहा करते थे। इस काव्य के प्रत्येक पद्य—प्रत्येक पंक्ति—में प्रेम-रस भरा हुआ था। ऐसा अच्छा काव्य आज तक खड़ी बोली में न निकला था। संस्कृत में कालिदास और जयदेव तथा हिंदी में सूर और तुलसी के काव्यों की तरह लोग इसका पारायण करने लगे। मई की "वैजयंती" में यह काव्य निकला और जून की "वैजयंती" में इसकी समालोचना का निकलना शुरू हो गया। समालोचना के लेखक ने भी अपना नाम न दिया था। लेख के अंत में "कमल" लिखा हुआ था। जब जून की "वैजयंती" कहीं जुलाई में लंदन पहुँची और रामानंद ने अपने काव्य पर सुविस्तृत और सारपूर्ण समालोचना पढ़ी तब वह दंग रह गया। उसने देखा कि उसके काव्य के भीतरी से भीतरी और बारीक से बारीक गुण-दोषों का बहुत ही अच्छा विवेचन समालोचना में किया गया है। उसने देखा कि समालोचना की भाषा बड़ी प्रौढ़, उसका शब्द-विन्यास बड़ा सुंदर और उसकी आक्षेपोक्तियाँ बड़ी रसीली हैं। इन बातों ने रामानंद के मन में समालोचक के विषय में बड़ी श्रद्धा पैदा कर दी। उसने बड़ी कृतज्ञता से सिर झुकाकर ईश्वर का धन्यवाद किया। उसने कहा, ईश्वर ही

की कृपा से हिंदी-जगत् में भी ऐसे अच्छे समालोचक पैदा होने लगे। आज से रामानंद बड़ी व्यग्रता से "वैजयंती" की प्रतीक्षा करने लगा, क्योंकि उसके उक्त अंक में समालोचना का सिर्फ़ प्रारम्भिक अंश ही छपा था।

(४)

पंडित शिवानंद के आनंद की सीमा नहीं। आज उनके पास सेक्रेटरी आव स्टेट का तार लंदन से आया है। उसमें उन्होंने रामानंद के सिविल सर्विस परीक्षा में सर्वोच्च स्थान पाने की बधाई दी है। इसके दूसरे ही दिन भारतवर्ष के कुल दैनिक पत्रों में रामानंद की प्रशंसा में टिप्पणियाँ निकल गईं। इसके बाद शीघ्र ही दैनिक पत्रों में रूटर का तार छपा कि इस वर्ष सिविल सर्विस परीक्षा में उत्तीर्ण पहले चार छात्र कहाँ कहाँ नियुक्त होंगे। रामानंद इलाहाबाद में नियुक्त हुए।

"वैजयंती" संपादक पंडित भुजंगभूषण भट्टाचार्य बड़े योग्य पुरुष हैं। साहित्य, इतिहास और दर्शन की तो आप मानों मूर्त्ति हैं। वे बड़े सरल भी हैं। देश भर में आपकी बड़ी ख्याति है। "वैजयंती" प्रयाग से प्रकाशित होती है। भट्टाचार्य्य महाशय का दफ्तर शहर के बाहर एक बाग में है। वह एकांत स्थान है। वहीं बैठकर भट्टाचार्य्य महाशय साहित्यालोचना किया करते हैं। बाग में एक छोटी सी कोठी है। इसी कोठी के सम्मुख भाग में भट्टाचार्य्य महाशय का कमरा

है। वे आरामकुर्सी पर लेटे हुए आज का दैनिक पत्र पढ़ रहे हैं। कमरे में एक ओर संपादक की मेज है। उस पर करीने से अनेक पत्र, पत्रिकाएँ और समालोचनार्थ आये हुए ग्रंथ रखे हैं। एक ओर लिखने का सामान है। बिल्लौरी दावातों पर स्याही की एक बूँद भी नहीं पड़ी। होल्डरों की निबें निहायत साफ हैं। बेदाग ब्लाटिंग पेपर (सोख्ता कागज) पास ही रखा हुआ है। इन चीजों को देखकर मालूम होता है कि यह सामान रोज बदला और साफ किया जाता है। दूसरी ओर पेंसिलें और चाकू आदि हैं। कई तरह की पेंसिलें और दो चाकू रखे हुए हैं। बीच में विजिटिंग कार्ड्स रखने के लिए एक निहायत खूबसूरत रकाबी है। बिजली की घंटी का डोरा मेज के एक कोने में बँधा हुआ है। तारीख-सूचक कैलेंडर घड़ी के नीचे लटक रहा है। उसी के पास भगवती सरस्वती का एक तैल-चित्र टँगा है। भट्टाचार्य्य ध्यानावस्थित से अखबार पढ़ रहे हैं। इतने में कमरे का द्वार खुला और चपरासी एक कार्ड लाया। कार्ड देखते ही भट्टाचार्य्यजी झटपट बाहर गये और कुछ क्षण के बाद ही मिस्टर रामानंद का हाथ पकड़े हुए कमरे में वापिस आये।

हँसते हुए भट्टाचार्य्यजी ने कहा—आज आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया।

रामानंद ने बड़ी शिष्टता से उत्तर दिया—धन्यवाद, कई दिनों से इधर आने को सोच रहा था; मगर आजकल काम

की वजह से अवकाश ही नहीं मिलता। बड़ी मुश्किल से आज आ पाया हूँ।

भट्टाचार्य्य—आपके लेखों और विशेष कर आपके सुमधुर काव्य—'मिलन'—से हमारी पत्रिका की बड़ी प्रतिष्ठा हुई है। मेरे पास यथेष्ट शब्द नहीं जो उनसे मैं आपका धन्यवाद करूँ।

रामानंद—हिंदी के सेवाव्रत में मैं और आप दोनों ही व्रती हैं। फिर कौन किसका धन्यवाद करे? कहिए, मेरे काव्य के समालोचक महोदय का कोई और लेख तो "वैजयंती" में छपने के लिए नहीं आया?

"हाँ, आया है।" यह कहते-कहते भट्टाचार्य्यजी उठे और मेज की दराज को खोलकर कोई २० सफे का एक लेख निकाल लाये। मोती से अक्षरों की आभा को दूर से ही देखकर रामानंद का हृदय फड़क उठा।

लेख को रामानंद के हाथ में देते हुए भट्टाचार्य्यजी ने कहा—यह देखिए, उन्हीं का लिखा हुआ यह ताजा लेख आया है। "वैजयंती" की अगली संख्या का यही अग्रलेख होगा। इसमें समालोचना के गूढ़ रहस्य बहुत ही अच्छी तरह खोले गये हैं। जरा देखिए तो सही।

रामानंद ने लेख को पढ़ना शुरू किया। भट्टाचार्य्य ने बाहर जाकर अपने बागीचे से कुछ फल लाने के लिए चुपके से अपने मालीतेजराम को आज्ञा दी। लेख के अभी दो पृष्ठ भी समाप्त न हुए होंगे कि रामानंद सहसा चौंक पड़े—

"क्या यह सच है ? अद्भुत व्यापार ! विलक्षण घटना !" आदि वाक्य उनके मुँह से निकलने लगे।

इसी समय भट्टाचार्य्य महाशय कमरे में लौट आये। उनको देखकर रामानंद ने कहा—महाराज, जो रहस्य आप आज तक छिपाये हुए थे, मेरे बार-बार पूछने पर भी जिसे आपने नहीं बताया उसे आज आपने स्वयं ही खोल दिया। आश्चर्य्य तो देखिए।

भट्टाचार्य्यजी ने जल्दी में पूछा—क्या लेखक का असली नाम आपको मालूम हो गया ?

रामानंद ने "हाँ, देखिए न" कहकर लेख का तीसरा पृष्ठ भट्टाचार्य्यजी के सामने रख दिया। उसमें एक फोटो सटा हुआ था और उसके नीचे लिखा था—

पितृतुल्य भट्टाचार्य्यजी की सेवा में सादर समर्पित,
मोहिनीबाला, एम० एस-सी०,
प्रिंसिपल, हिंदू-गर्ल्स-कालेज,
बनारस।

इसी फोटो पर भट्टाचार्य्यजी ही के हाथ का लिखा हुआ था—
सुप्रसिद्ध 'मिलन' समालोचिका
कमल (ि नी)

रामानंद के आनंद का आज पार नहीं। मोहिनी के वियोगजन्य दुःख के कारण ही उन्होंने "मिलन" काव्य लिखा था। भट्टाचार्य्यजी ने जलद-गंभीर घोष में बहुत देर बाद

निःस्तब्धता तोड़ी। वे बोले—तो क्या आप श्रीमती मोहिनी-बाला से परिचित हैं ?

रामानंद इसका उत्तर देने ही को थे कि फिर दरवाजा खुला और चपरासी एक और कार्ड लेकर कमरे में आया। कार्ड देखते ही भट्टाचार्य्यजी का चेहरा शुद्ध स्वर्ण-खंड-सम दमक उठा और "दो मिनिट के लिए क्षमा कीजिए"—कहते हुए वे बाहर गये। कुछ क्षण बाद ही रामानंद ने मोहिनी और भट्टाचार्य्य को कमरे में प्रवेश करते देखा। मोहिनी एम० एस-सी० का चोगा पहने थी। देखते ही रामानंद उसको पहचान गये। पर मोहिनी की अभिज्ञान-शक्ति की परीक्षा लेने के लिए वे अखबार हाथ में लिये चुपचाप बैठ रहे। मोहिनी ने रामानंद को गवरून का कोट और हिंदुस्तानी जूता पहने देखा था। उस समय वे एक साधारण विद्यार्थी थे। पर आज वे सोलह आना साहब बने कोट-पैंट डाटे थे। इँगलैंड में रहने के कारण उनका शरीर-संगठन और चेहरे का वर्ण भी पहले से बहुत कुछ बदल गया था। आखिर मोहिनी ने धोखा खाया और वह दूसरी ओर भट्टाचार्य्यजी के सामने कुर्सी पर बैठकर उनसे बातचीत करने लगी। मानो उसने इन साहब बहादुर को देखा ही नहीं। भट्टाचार्य्यजी से बड़े ही कोमल स्वर में मोहिनी ने कहा—

"मुझे क्षमा कीजिए। मैं परसों शाम को यहाँ आ गई थी। पर आपके दर्शन इससे पहले न कर सकी।"

भट्टाचार्य्य—शुभे, आपने अपने आने की मुझे खबर तक न दी !

मोहिनी—मुझे स्वयं ही न मालूम था कि इसी सप्ताह मुझे यहाँ आना होगा।

बड़े स्नेह से भट्टाचार्य्य ने पूछा—कुशल तो है न ?

मोहिनी—आपका अनुग्रह है। पिताजी की संपत्ति के विषय में यहाँ के प्रसिद्ध वकीलों से एक बहुत ही जरूरी मशविरा करने के लिए मुझे यहाँ सहसा आना पड़ा।

भट्टाचार्य्य—समझा।

मोहिनी ने बड़े चाव से पूछा—कहिए, कई महीनों से 'भ्रमर' महाशय का कोई लेख "वैजयंती" में नहीं छपा। क्या कारण है ? ऐसा लेखक हिंदी-जगत् में दूसरा नहीं। दुःख है, आपको उन्होंने अपना नाम न बताने की इतनी सख्त ताकीद कर दी है। अन्यथा मैं तो उनके दर्शन करके अपने को धन्य समझती।

इन वाक्यों ने रामानंद के शरीर में बिजली की धारा सी बहा दी।

भट्टाचार्य्य ने मुसकराते हुए कहा—और आपके सदृश समालोचक भी हिंदी-संसार में दूसरा नहीं, यह कहने की मुझे आज्ञा दीजिए।

मोहिनी ने गरदन नीची करके कहा—धन्यवाद भट्टाचार्य्यजी। मैं तो हिंदी की एक क्षुद्र सेविका हूँ।

भट्टाचार्य्य ने यही समय इन दोनों के मिलन के लिए उपयुक्त समझा। उन्होंने कहा—हाँ, आप 'भ्रमर' से मिलना चाहती हैं! वे भी आजकल प्रयाग आये हुए हैं। आप मिल लीजिए। पर आपको भी अपनी जिद छोड़कर उनको पहले पत्र-द्वारा यह सूचना देनी होगी कि आप ही उनके काव्य की समालोचिका, अपने शब्दों में 'कमल' और मेरे शब्दों में 'कमलिनी' हैं। कहिए मंजूर है ?

मोहिनी—प्रयाग में वे कहाँ ठहरे हैं, यह तो बता दीजिए।

भट्टाचार्य्य ने हँसते हुए कहा—मुझ बूढ़े को ठगने की चेष्टा न करो। जब तक उक्त मजमून का पत्र लिखकर न दोगी, 'भ्रमर' से नहीं मिल सकतीं।

"क्षमा कीजिए। पत्र लिखती हूँ"—यह कहकर मोहिनी ने मेज के ऊपर से कागज-कलम उठाकर पत्र लिखना आरंभ किया। इधर भट्टाचार्य्य ने मुँह फेरकर रामानंद की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखा तो सिविल सर्विस की परीक्षा पास, न्यायमूर्त्ति, रामानंद उसी निस्तब्धता से अखबार के ऊपर रखे हुए, 'समालोचना-तत्त्व' को पढ़ने का ढोंग कर रहे थे।

बड़े मीठे स्वर में मोहिनी ने कहा—पत्र लीजिए।

पत्र को हाथ में लिये भट्टाचार्य्य ने, दोनों के बीच में खड़े होकर, मोहिनी से कहा—मोहिनी, मैं तुम्हारा परिचय इलाहाबाद के ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट पंडित रामानंद चतुर्वेदी, आई० सी० एस०, उपनाम 'भ्रमर' से कराता हूँ।

फिर रामानंद की ओर मुड़कर कहा—माननीय महाशय, मैं आपका परिचय आपकी समालोचिका विदुषी मोहिनीबाला से कराता हूँ।

इन शब्दों के समाप्त होते न होते मोहिनी रामानंद के चरणों पर गिर पड़ी। रामानंद ने उसको तत्काल ही बड़े प्रेम से उठा लिया।

वृद्ध भट्टाचार्य इनके निमित्त फलाहार लाने के लिए बाहर खिसक गये।

इसके एक सप्ताह बाद इलाहाबाद के दैनिक पत्र में निम्नलिखित आशय की पंक्तियाँ छपीं—

भारतवासियों का मुख उज्ज्वल करनेवाले स्वनामधन्य मिस्टर रामानंद चतुर्वेदी का विवाह परम विदुषी श्रीमती मोहिनीबाला के साथ कल बड़ी धूमधाम से हो गया। हाई-कोर्ट के प्रधान विचारपति तथा अन्यान्य गण्य-मान्य सज्जन विवाह-मंडप में उपस्थित थे। ईश्वर करे, नवदंपती चिरजीवी होकर देश का मंगल-साधन करें।

मोहिनी के पिता ने कई लाख की संपत्ति छोड़ी थी, जिसकी एकमात्र अधिकारिणी मोहिनी थी। पर, रामानंद को उस संपत्ति में सबसे अधिक मूल्यवान् वह पत्र प्रतीत हुआ जो मोहिनी के पिता की मृत्यु के बाद उनके बक्स में मिला था। उसमें लिखा था—

मोहिनी,

जिस दिन मैं इस नश्वर जगत् से विदा हो चुकूँगा उसी दिन तुम शायद यह पत्र पढ़ोगी। मुझे विश्वास है कि तुमने मेरी उस आज्ञा को, जो मैंने तुमको रामानंद के साथ पत्र-व्यवहार बंद करने के विषय में दी थी, सुनकर जरूर दुःख पाया होगा। पर आज मैं तुमसे कहता हूँ कि बिना वैसी आज्ञा दिये तुम्हारी और रामानंद की विद्या-विषयक उन्नति असंभव थी। अब मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम रामानंद के साथ विवाह करके सुख से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो। ईश्वर तुम्हारी सारी शुभ कामनाएँ सफल करे।

तुम्हारा स्नेहभाजन पिता, "देवधर"

—ज्वालादत्त शर्म्मा

---

(११) कवित्व

(१)

कवित्व संसार में बड़ा ही सुंदर है। स्वर्ग की अप्सराएँ, नंदनवन के पारिजात, पूर्णिमा का चंद्र सुंदर कहे जाते हैं; किंतु कवित्व के सामने इन सबकी सुंदरता अकिंचित्कर है। वसंत ऋतु की मलयानिल, प्रातःकाल का दिङ्मंडल, संध्या का अरुणित आकाश भी सुंदर कहे जाते हैं; किंतु क्या वे कवित्व की सुंदरता की समता कर सकते हैं?

कवित्व को सुंदर कहना कवित्व का अनादर करना है। कवित्व ही समस्त सुंदर वस्तुओं का मूल है। कवित्व ने ही सुंदर को सुंदरता दी है। सौंदर्य-संसार में कवित्व ही सबसे

ऊँचा है। संसार भर में कवित्व ही का राज्य है। अच्छे को बुरा करना, बुरे को अधिक बुरा करना; अथवा अधिक बुरे को अधिक अच्छा करना—घुमा-फिराकर, उलट-पुलटकर, बुरे को बुरा और भले को भला कहना एकमात्र कवित्व का ही काम है। भगवान् ने उसे सब कुछ करने की शक्ति दी है।

कवित्व अंधकार में दीपक है; कवित्व दरिद्र का धन है; कवित्व भूख में अन्न और प्यास में शीतल जल है। कहाँ तक कहें, वह दुःख में धैर्य्य और विरह में मिलन है। आज उसी कवित्व की कथा मैं लिखने बैठा हूँ; इसी से मन अलौकिक आनंद में है।

कवित्व की दया और उसकी प्रीति से सामान्य मनुष्य भी अमर हो जाता है; इसी से कवित्व की उपासना करने और उसे श्रेष्ठता देने को कौन न उद्यत होगा।

(२)

कवित्व इतना अच्छा मनुष्य है; किंतु उसका जीवनचरित नहीं है। जीवनचरित लिखने की कोई सामग्री भी नहीं है। दर्शन तथा विज्ञान, कवित्व को 'मनुष्य' कहने में हिचकते हैं। हिचकने दो; किंतु मैं तो उसको एक असाधारण मनुष्य—एक महापुरुष, एक आदर्श पुरुष समझता हूँ। पाठक! मैं जो कुछ समझता हूँ, ठीक उसी प्रकार, आपको परिचय भी दूँगा। बड़ी कठिनाई से आज मैं कवित्व की थोड़ी सी जीवनी लिखने बैठा हूँ। बहुत कुछ खोज-खाज करने पर भी मैं अब तक

इसका जन्म-समय निश्चित नहीं कर सका। बहुत पहले, अथवा यों कहिए कि, लाखों वर्ष पहले, उसका जन्म हुआ है, इसमें संदेह नहीं।

कवित्व की जन्म-भूमि कहाँ है ? मृत्युलोक अथवा देव-लोक, सो कुछ ठीक नहीं। ठीक है केवल यह कि कवित्व एक बड़ा प्रभावशाली, सर्व-जन-प्रिय चक्रवर्ती राजा है। बच-पन में उसे शत्रुओं के हाथ से बड़े-बड़े दुःख झेलने पड़े हैं। अनेक बार उसका जीवन संकट में पड़ा है। भाषा का अभाव ही उसका प्रधान शत्रु है। आधुनिक पंडितों ने अनुसंधान से यही निश्चय किया है कि कवित्व उस समय निःसहाय था। शत्रु का दमन करने में वह उस समय सफलीभूत नहीं हुआ। उस समय कौन जानता था कि एक समय यही कवित्व दिग्विजयी सम्राट् हो जायगा। कौन जानता था कि अभागे जगत् का यही कवित्व जीवन-सर्वस्व होगा। यही कवित्व, आगे संसार में श्रेष्ठासन पर बैठ, देवों तथा मानवों के हृदय का पूजोपहार ग्रहण करेगा; यह बात तब किसी के स्वप्न में भी न आई थी।

निःसहाय होने पर भी कवित्व ने बड़ी वीरता दिखलाई। अपने प्रभाव से उसने प्रबल शत्रुओं के हाथ से अपने को भली भाँति बचा लिया; क्योंकि कुछ दिन पीछे एक परम रूपवती सुंदरी ने उत्पन्न होकर कवित्व के प्रबल शत्रु को एक बार ही विध्वंस कर दिया। उस स्त्री का नाम 'भाषा' है।

वीरवर कवित्व, यह हाल पाकर, शत्रु-संहारिणी वीरांगना भाषा से विवाह करने के लिए बहुत ही उत्सुक हुआ। भाषा भी कवित्व के सब गुण सुनकर उसके गले में वरमाला डाल देने को व्यग्र थी। किंतु विधाता का लेख अखंडनीय है। लाख चेष्टा करने पर भी जिस दिन जो होनेवाला है वह उसी दिन होता है। कोई बाधा नहीं; किसी को कुछ आपत्ति भी नहीं; तब भी कितने ही वर्ष बीत गये; किंतु कवित्व और भाषा की आशा पूरी न हुई। भाषा और कवित्व का पाणिग्रहण न हुआ। वीरवर कवित्व ने और भी कड़ी प्रतिज्ञा की कि यदि मैं भाषा को न पाऊँ तो अब इस देह को रखूँहीगा नहीं।

विरह बड़ा भयानक रोग है। जिस वीर ने अकेले प्रबल शत्रुओं के संग युद्ध करके जय प्राप्त किया, वह भी इसे न जीत सका। यह रोग लगे पीछे विना सच्ची ओषधि के कभी नहीं जाता। कवित्व का वह शत्रु नहीं है; किंतु, तिस पर भी, वह उसे नहीं छोड़ सका। कवित्व लताओं में शयन करके भी अपने मन को शांति नहीं दे सका। उसके आत्मीय जन उसकी यह अवस्था देख चिंता करने लगे—हाय! जान पड़ता है, अब कवित्व बचेगा नहीं। भगवन्! नहीं जानते कि तुम्हारे मन में क्या है?

(३)

तमसा नदी के तीर पुष्पक वन बड़ा शोभायमान लगता है। प्रातःकाल की मृदु मंद वायु धीरे-धीरे बहकर फूलों का

चुंबन कर रही है। वायु से लतादि खेल रही हैं। पशु-पची इधर-उधर क्रीड़ा कर रहे हैं। विरही के लिए ऐसा स्थान बड़ा ही दुःखदायी है। दैवेच्छा देखिए; आज बेचारा कवित्व इसी स्थान पर घूमता-घूमता आ पहुँचा। स्थान को देखकर उसका हृदय बड़ा कातर हो गया। हाय ! इस स्थान पर छोटे पची से लेकर बड़े-बड़े पशु तक अपनी पत्नियों के साथ विहार कर रहे हैं। केवल मैं ही ऐसा अभागा क्यों हूँ ? ईश्वर ! तुम्हें मेरी दशा पर तनिक दया नहीं आती। कौन दिन होगा जिस दिन मेरा हृदय सुंदरी भाषा के संयोग से शीतल होगा ! विरहातुर कवित्व इस प्रकार शोक-सागर में डूबने लगा; किंतु किसी ने उसके प्रति दया न की; किसी ने उसकी ओर झाँका तक नहीं।

ब्राह्मण बड़े दयार्द्र होते हैं। उनकी दया ने सारा संसार जीता है। ब्राह्मण वा ऋषियों की दया न होने से जगत् एक बार ही अंधकार में धँस जाता। कवित्व का शोक देखकर दयावान् ब्राह्मणों से न रहा गया। उन्होंने उसकी कातरता का वर्णन ऋषिवर वाल्मीकि से किया। शोकातुर कवित्व का वह दुःख किसी ने न समझा। समझा केवल ऋषि वाल्मीकि ने। उन्होंने उसकी सब इच्छा समझ ली। प्रेमिक-श्रेष्ठ कवित्व के हृदय में जो नैराश्य की अग्नि जल रही थी, उसको उन्होंने ठीक-ठीक समझ लिया। महात्मा का दयावान् हृदय कवित्व की कातरता से पिघल गया। उन्होंने

अति शीघ्र भाषा और कवित्व के विवाह का योग जुटा दिया। तदुपरांत उस महात्मा ने कवित्व-समागम के लिए उत्सुक भाषा को लाकर विरहातुर, मर्म्म-पीड़ित, कवित्व के हाथ में, शुभ-समय में, समर्पण किया। भाषा आनंद से प्रफुल्लित हो गई। अपनी मनोकामना पूरी होने की प्रसन्नता से कवित्व कृतकृत्य हो गया। महात्मा वाल्मीकि उस भाग्यशाली मधुर मनोहर-वेशी दम्पती को लेकर सबके सामने उपस्थित हुए। सब लोग आश्चर्य से उन्हें देखने लगे। महात्मा ने कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

दिग्दिगंत में कोलाहल हो उठा। स्वयं ब्रह्मा उस स्थान पर आये; और वाल्मीकिजी की, इस काम के लिए, उन्होंने सधन्यवाद प्रशंसा की।

(४)

संसार विचित्र है। एक ओर प्रकाश, दूसरी ओर अंधकार; एक ओर धूप, दूसरी ओर मेघ; एक ओर आनंद, दूसरी ओर विषाद—संसार की गति यही है; इसी से, उसी संसार में, एक ओर सर्व-पूजित श्रेष्ठ कवित्व, और दूसरी ओर सर्व-घृणित मिथ्या। कवित्व सुंदर, मिथ्या कुत्सित। कवित्व की प्रशंसा सब जगह; मिथ्या की निंदा सब जगह। कवित्व सर्वत्र सम्मानित; मिथ्या सर्वत्र असम्मानित; इसी से मैं कहता हूँ—'संसार विचित्र है'।

कवित्व ने एक दिन इसी बेचारी दुःखिनी मिथ्या को दूर से देखा। दुःखिनी का दुःख देख उसको दया आ गई। मिथ्या मारी-मारी फिरती है। कितने मनुष्य उसके ऊपर धूल और पत्थर फेंक रहे हैं। कितने अकथ्य भाषा में गाली बक रहे हैं। कितने कुचेष्टाएँ कर रहे हैं। मिथ्या यदि घूमते-घूमते किसी के निकट जाकर आश्रय चाहती है तो वह उससे नाक-मुँह सिकोड़ दस हाथ दूर भागता है। कोई-कोई कार्य्यवश उसको लेता भी है; किंतु फिर भी उसका अपमान होता है। शरणार्थिनी मिथ्या के ऊपर किसी की भी कृपा-दृष्टि न हुई। जो लोग मिथ्या का पक्ष करते हैं, मनुष्य-समाज में वे ही निंदित होते हैं।

यही सब देख-सुनकर कवित्व कहने लगा—अहा! जगत् में इस मिथ्या के समान और कोई हतभागिनी स्त्री न होगी। सबके पैरों से कुचली हुई, अनेक दोषों से दूषित इस रमणी के लिए कोई भूलकर भी दया प्रकाश नहीं करता। भगवन्! इस पतिता का क्या किसी प्रकार उद्धार नहीं हो सकता है?

बहुत चिंता कर अंत में कवित्व ने मिथ्या का पाणिग्रहण करना ही स्थिर किया। उसके साथ विवाह करने से मिथ्या के दोष सब प्रकार से परिशोधित हो जायँगे, यही विश्वास करके वह मिथ्या के साथ विवाह करने को उद्यत हुआ। इस बार कवित्व को विवाह करने के लिए उतनी उत्कंठा नहीं सहनी पड़ी।

मिथ्या के साथ कवित्व का विवाह हो गया। इस विवाह के भी आचार्य्य वही महात्मा वाल्मीकि हुए। समाज में अनेक प्रकार के ऐसे विवाह होते हैं; इसी से इस काम के लिए, किसी को दोष नहीं दिया गया। कवित्व ने यथार्थ में बेचारी मिथ्या का उद्धार किया। कवित्व-सहचारिणी मिथ्या जनसमाज में अच्छे प्रकार समादृत होने लगी। कुत्सिता, घृणिता, मिथ्या कवित्व के संयोग से सुंदर हुई। कवित्व ने भी अधिक प्यार के साथ उसका नाम बदलकर 'कल्पना' रख दिया। कल्पना-भाषा-समन्वित कवित्वदेव की घर-घर पूजा अब भी होती है। कवि ने यथार्थ कहा है—"काचः कांचन-संसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्"।

कवित्व की दोनों ही पत्नियाँ कुछ चंचल हैं। कभी वे दोनों अपने पति का साथ छोड़ कहीं अलग भ्रमण करने लगती हैं। कभी पति के साथ नाना देश, नाना स्थान, देखने को चली जाती हैं।

चंद्र के बिना रात फीकी लगती है। कवित्व के बिना मिथ्या का समादर कैसे होगा ? कांचन न होने से हीरे की शोभा कैसे बढ़ेगी ! मिथ्या यदि अकेली रहे तो वही पूर्ववत घृणिता। वह उज्ज्वल-वेशी राजमहिषी कल्पना, और यह विकृतवेशी मिथ्या, दोनों एक ही हैं, सो कोई नहीं जान सकता।

मिथ्या जिस समय कल्पना के रूप में महात्माओं के पास से होकर निकलती है उस समय उसका तेज बहुत ही देदी-

प्यमान हो जाता है। उस समय उसमें कुछ भी क्रूरबुद्धि नहीं रहती; उस समय उसका आदर भाषा से भी अधिक बढ़ जाता है। किंतु वह भाषा के भी वृद्धि-साधन के लिए सचेष्ट रहती है। स्वामी का संग छोड़ने से मिथ्या के दुःख-भाव का भी कभी-कभी परिचय मिलता है। उस समय वह भाषा को नीचा दिखलाती है।

हे कवित्व! हे महापुरुष! यह दुःशीला मिथ्या तुम्हारे ही संसर्ग से रमणीरत्न कल्पना हुई है। इसी से, हे अलौकिक शक्ति-संपन्न देव! तुमको हम लोग पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। तुमने दीन की ओर दया करके उसका कष्ट मोचन किया है। तुमने मनुष्यों का हृदय मिथ्या की ओर से बदल दिया है। अतएव तुम्हें बारंबार नमस्कार है। तुम धन्य हो!

भाग्यवान् कवित्व की और भी दो-एक पत्नियाँ हैं। उनमें से चित्रविद्या मुख्य है। कवित्व सब पत्नियों का प्यारा है। काव्य, आलेख्य प्रभृति उसके पुत्र हैं। कवित्व की दूसरी पत्नी कल्पना संतान के पालन करने में बड़ी चतुर है। इसी से कवित्व की कई संतान उससे ही प्रतिपालित हैं।

कवित्व किसी न किसी स्त्री को साथ लिये बिना बाहर नहीं निकलता। वह भाषा की अपेक्षा मिथ्या को अधिक प्यार करता है। इसी से कवित्व एक दोष से दोषी है।

—चतुर्भुज औदीच्य

---

(१२) त्याग और उदारता

[राजपूताने के सब राजा अकबर बादशाह के अधीन हुए, पर उदयपुर के महाराणा प्रताप ने अधीनता नहीं मानी। सं० १६३३ में बादशाही फौज ने महाराणा पर चढ़ाई की। महाराणा बड़ी वीरता से लड़े। यह लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। महाराणा को बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े पर वे दृढ़ बने रहे। संकट के समय उनके देशभक्त और स्वामिभक्त मंत्री ने कैसा त्याग, उच्च हृदय और अकबर ने कैसी उदारता दिखाई उसी का दृश्य अंकित है।]

स्थान—मेवाड़ का सीमाप्रांत

[आगे-आगे घोड़े पर सवार राणा प्रतापसिंह, पीछे-पीछे घोड़े पर कुछ सरदार लोग।]

राणा—मेरे विपत्ति के सहायक भाइयो! मेरे साथ तुम लोगों ने बड़े दुःख उठाये और अंत में अब यह दिन आया कि मुझ भाग्यहीन के साथ तुम्हें भी अपनी प्यारी जन्मभूमि को छोड़ना पड़ता है। अहा सच है—

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

एक सरदार—अन्नदाता! यह आपके कहने की बात है? क्या आप अपने लिए यह कष्ट उठा रहे हैं? जिस जन्मभूमि की रक्षा में आप इतने दुःख सह रहे हैं वह क्या हमारी नहीं है? उसकी रक्षा करना क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है?

राणा—पर भाई, इस अधम प्रताप के किये जन्मभूमि की रक्षा भी तो नहीं हुई! अब तो जन्मभूमि को भी शत्रुओं के हाथ में छोड़कर अज्ञातवास करने चले हैं।

सरदार—क्या हुआ पृथ्वीनाथ ! कोई यह तो न कहेगा कि राणा प्रतापसिंह ने सुख की चाह में अपनी जन्मभूमि को यवनों के हाथ बेचा ? परमेश्वर की लीला कौन जानता है ! क्या आश्चर्य है कि फिर ऐसा समय आवे कि जब श्रीहुजूर अपने देश को शत्रुओं से लौटा सकें। धर्मावतार, उस समय कलंकित पैर से तो राजसिंहासन पर न चढ़ेंगे।

राणा—इसमें तो संदेह नहीं; और फिर अपनी आँखों से अपने देश की यह दुर्दशा देखते हुए जीते रहने से तो अन-जाने विदेश में मरना ही अच्छा; क्योंकि—

"मरनो भलो बिदेस को जहाँ न अपनो कोय।
माटी खायँ जनावराँ महा महोच्छव होय॥"

एक सरदार—ठीक है—

दुरदिन पड़े रहीम कहि दुरथल जैये भागि।
जैसे जैयत घूर पर जब घर लागति आगि॥

राणा—सच है, अच्छा चलो भाइयो ! चलो, अब इस स्थान की मोह-माया छोड़ो। (आँखों में आँसू भरकर)

जेहि रच्छी इच्वाकु सों अब लौं रविकुल राज।
हाय अधम परताप तू तजत ताहि है आज॥
तजत ताहि है आज प्राण सम प्यारी जोही।
हे मिवार सुखसार ! कृपा करि छमियो मोही॥
रह्यो सदा ह्वै भार, काज आयो तुम्हरे केहि ?
बिदा दीजिए हमैं भार हलुकाय आजु जेहि॥

[सब लोग सजल नेत्र वेर-वेर पीछे की ओर देखते-देखते घोड़ा बढ़ाते हैं और दूर से घोड़ा दौड़ाते हाथ उठाकर रोकते हुए भामाशा दिखाई पड़ते हैं।]

भामाशा—(पुकारकर) ओ मेवाड़ के मुकुट ! ओ हिंदू नाम के आश्रयदाता ! तनिक ठहरो, इस दास की एक बिनती सुनते जाओ। भामाशा को अकेले छोड़कर मत जाओ।

राणा—(घोड़ा रोककर) भामाशा ऐसे घबराये हुए क्यों आ रहे हैं ?

[भामाशा पास आ जाते हैं और घोड़े से कूदकर राणा के पैरों पर रोते हुए गिरते हैं। राणा घोड़े से उतरकर भामाशा को उठा छाती से लगाते हैं। दोनों खूब रोते हैं।]

राणा—मंत्रिवर, तुम ऐसे धीर-वीर होकर आज ऐसे अधीर क्यों हो रहे हो ?

भामाशा—प्रभो, मेरे अधैर्य का कारण आप पूछते हैं ?

धिक सेवक जो स्वामि-काज तजि जीवन धारै।
धिक जीवन जो जीवन-हित जिय नाहिं विचारै ॥
धिक सरीर जो निज-कर्त्तव्य-विमुख ह्वै बँचै।
धिक धन जो तजि स्वामि-काज स्वारथ हित संचै ॥
धिक देशशत्रु किरतघ्न यह भामा जीवत नहिं लजत।
जेहि अछत वीर परताप बर असहायक देसहिं तजत ॥

राणा—परंतु इसमें तुम्हारा क्या दोष ? तुमने तो अपने साध्य भर कोई बात उठा नहीं रखी।

भामाशा—अन्नदाता, यह आप क्या कहते हैं ? परम-स्वार्थी भामाशा ने आपके लिए क्या किया ? अरे ! आपके अन्न से पला हुआ यह शरीर सुख से कालक्षेप करे और आप वन-वन की लकड़ी चुनें और पहाड़-पहाड़ टकरायँ ! प्रतापसिंह स्वाधीनता-रक्षार्थ, हिंदू नाम अकलंकित-करणार्थ देश-त्यागी हों और भामाशा अपने जन्मभूमि-निवास का स्वर्गोपम सुख भोगे ! जिन राणा की जूतियों के प्रसाद से भामाशा भामाशा बना है, वे ही राणा पैसे-पैसे को मुहताज हों, सहायताहीन होने के कारण निज देशोद्धार में असमर्थ हों, प्राणोपम जन्मभूमि को छोड़ मरुभूमि की शरण लें, और भामाशा धनी-मानी बनकर, ऐसे उपकारी स्वामी की सेवा छोड़-कर विदेशीय, विजातीय, हिंदुओं के गौरव को मिटानेवाले राजा की प्रजा बनकर सुखपूर्वक कालयापन करे ! धिक्कार है ऐसे सुख पर !! धिक्कार है ऐसे जीवन पर !!!

राणा—पर भामाशा, तुम इसको क्या करोगे ? जो भाग्य में होना है वही होता है। अब तुम क्या चाहते हो ?

भामाशा—धर्मावतार, आज मेरी एक विनती स्वीकार हो, यह मेरी अंतिम विनती है।

राणा—क्या प्रतापसिंह ने कभी तुम्हारी बात टाली है ?

भामाशा—तो अन्नदाता, एक बेर फिर मेवाड़ की ओर घोड़े की बाग मोड़ी जाय। इस दास के पास जो पचीसों लाख रुपये की संपत्ति दरबार की दी हुई है उसी से फिर एक

बेर सेना एकत्र की जाय और एक बेर फिर मेवाड़ की रक्षा का उद्योग किया जाय। जो इसमें कृतकार्य हुए तो ठीक ही है, नहीं तो फिर जहाँ स्वामी वहीं सेवक, जहाँ राजा वहीं प्रजा।

[राणा सरदारों की ओर देखते हैं]

भामाशा—आप इधर-उधर क्या देखते हैं ! अरे यह धन क्या मेरा या मेरे बाप का है ? यह सभी इन्हीं चरणों के प्रताप से है। मैं तो अगोरदार था अब तक अगोर दिया, अब धनी जाने और उनका धन जाने।

कविराजा—धन्य मंत्रिवर, धन्य ! यह तुम्हारा ही काम था—

जेहि धन-हित संसार बन्यो बौरो सो डोलै।
जेहि हित बेचत लोग धर्म अपुने अनमोलै॥
जो अनर्थ को मूल, सूल हिय में उपजावै।
पिता पुत्र, पति पत्नि, अनुज सो अनुज छुटावै॥
सो सात-पुरुष-संचित धनहिं तृण समान तुम तजत हौ।
धनि ! स्वामिभक्त मंत्रीप्रवर, ताहू पै तुम लजत हौ॥

[बहुत से राजपूतों और भीलों का कोलाहल करते हुए प्रवेश।]

सब—महाराज, हम लोगों को छोड़कर आप कहाँ जा रहे हैं ? चलिए एक बेर और लौट चलिए। जब हम सब कट मरें तब आपका जिधर जी चाहे पधारें।

राणा—जो आप लोगों की यही इच्छा है तो और चाहिए क्या ?

चलो चलो सब वीर आजु मेवार उबारैं ।
अहो आज या पुण्यभूमि तें शत्रु निकारें ॥
चिर स्वतंत्र यह भूमि यवन-कर सों उद्धारैं ।
हिंदू नामहिं थापि धर्म-अरिगनहिं पछारैं ॥

नभ भेदि आजु मेवार पै उडै सिसोदिय-कुल-ध्वजा ।
जा सीतल छाया के तरें रहै सदा सुख सों प्रजा ॥

(चारों ओर से "महाराणा की जय" "हिंदूपति की जय" आदि पुकारते हुए लोग उमंगपूर्वक कूदते-उछलते हैं ।)

(पटाक्षेप)

स्थान—दिल्ली, शाही महल

[अकबर और खानखाना]

अकबर—उदयपुर से तो निहायत ही मनहूस खबर आई है। राणा के वफादार वजीर ने अपनी पुश्तहा पुश्त की कमाई दौलत बेदरेग राणा को दे दी है। सुना है उसके पास इतनी दौलत है जिससे वह पचीस हजार फौज की बारह बरस तक परवरिश कर सकता है। शाबाश है उसकी दरियादिली और वफादारी को, आफरीं है उसके हुब्बेवतनी और बेदारमगजी को। क्या दुनिया में ऐसे भी लोग हैं ?

खानखाना—और सुना है, प्रताप बड़े जोश के साथ फौज मुहय्या कर रहा है और जंगजू राजपूत व भील बराबर आते जाते हैं।

अकबर—वाह रे प्रतापसिंह, मैंने भी बहुत सी तवारीखें देखो हैं मगर इसकी मिसाल मुझे कोई न मिली। शाबाश, गजब का बहादुर और गजब का जफाकश है!

खानखाना—मगर खुदावंद, मेरी यही इल्तिजा है कि ऐसे शख्स को अब जियादा तकलीफ न दी जाय। हुजूर, ऐसे बहादुर शख्स को सताना नाजेबा है।

अकबर—दिल तो हमारा भी यही चाहता है कि अब प्रतापसिंह को बाकी जिंदगी आराम से काटने दें। राजा पृथ्वीराज आते हैं, देखें, इनके पास राणा का जवाब क्या आया है।

[पृथ्वीराज का प्रवेश]

अकबर—आइए राजा साहब तशरीफ रखिए। कहिए उदयपुर से कुछ जवाब आया?

पृथ्वीराज—हाँ जहाँपनाह, राणाजी लिखते हैं "मैंने कभी संधि की प्रार्थना नहीं की, मेरी यदि कोई प्रार्थना है तो यही कि अकबर स्वयं युद्ध-स्थल में आवें। एक हाथ में उनके तलवार हो और एक में हमारे, तब हमारा जी भर जाय। वे क्या वहाँ से बैठे-बैठे लड़कों को तथा अपने साले-ससुरों को भेजते हैं! हम क्या इन पर शस्त्र चलावें?"

अकबर—ठीक है, बहादुर प्रतापसिंह जो कुछ कहे सब बजा है, ये कलमे उसी को जेबा हैं।

खानखाना—अब तो जहाँपनाह मेरी इल्जिता कुबूल हो और प्रतापसिंह पर बखशिश की निगाह मबजूल हो।

अकबर—नवाब साहब, अगर आप लोगों की यही राय है तो मुझे कोई उज्र नहीं है, शाहवाजखाँ को लिख भेजिए वापस चले आएँ।

पृथ्वीराज—(स्वगत) धन्य गुणग्राहकता, यह अकबर ही के हृदय का काम है।

[एक चोबदार का प्रवेश]

चोबदार—(जमीन छूकर सलाम करके) जहाँपनाह, उदयपुर से एक सिपाही आया है।

अकबर—फौरन् हाजिर लाओ।

[घबराये हुए एक मुसलमान सैनिक का प्रवेश]

सैनिक—(जमीन छूकर सलाम करके) खुदावंद, बड़ा गजब हुआ, राणा ने उदयपुर फिर दखल कर लिया।

अकबर—सब सरगुजश्त जल्द बयान कर जाओ।

सैनिक—आलीजाह, परताप मुतवातिर शिकस्त खाते-खाते शिकस्तः दिल होकर अरवली की सरहद छोड़कर भागने की फिक्र में हुआ। हम लोगों को इतमीनान हुआ कि अब मेवार बे खरखशः हो गया, मगर इतने ही में उसके वजीर ने उसे बहुत सी दौलत की मदद दी और वह एकाएक बड़ी फौज इकट्ठी कर हम लोगों पर टूट पड़ा, सिपहसालार शहवाजखाँ की फौज को टुकड़े-टुकड़े काट डाला, अब्दुल्लाखाँ और उसकी फौज बिलकुल मारी गई। गरीबपरवर ! हम

लोगों पर मुतवातिर ३२ हमले किये गये। करीब-करीब तमाम मेवार इस वक्त दुश्मनों के कब्जे में है। सुना गया है कि अंबर तक राना चढ़ गया और मालपुरा का वाजार लूट ले गया। मैं किसी तरह जान बचाकर हुजूर को खबर देने आया। नहीं मालूम और लोगों की क्या हालत है।

अकबर—(क्रोधपूर्वक खानखाना से) कहिए अब आप क्या फर्माते हैं ?

खानखाना—खुदावंद, प्रताप के लिए तो यह कोई नई बात नहीं है, मगर हुजूर का हुक्म जो एक मर्तबा जुबान-मुबारक से निकल चुका, क्योंकर पलट सकता है ?

अकबर—मगर इसमें सख्त बदनामी होगी।

पृथ्वीराज—जगत्-विजयी अकबर के उद्दंड प्रताप को कौन नहीं जानता ? प्रताप के मुकाबिले अकबर को कौन बदनामी दे सकता है ?

खानखाना—और फिर मेरी अक़ल-नाक़िस में तो प्रताप ऐसे वहादुर से दरगुजर करना ऐन फख्र का बाइस है, बल्कि उसे सताना ही बदनामी है।

[नेपथ्य से "अजान" का शब्द सुनाई दिया।]

अकबर—नमाज का वक्त हो गया। इस वक्त यह शूरः मुलतवी रहे, फिर गौर किया जायगा।

(सबका प्रस्थान)

स्थान—उदयपुर राज-दरबार

[परम सुसज्जित तथा आलोकमय राजसिंहासन पर महाराणा प्रतापसिंह विराजमान। दोनों ओर गुलाबसिंह, भामाशा, कविराजा आदि तथा राजपूत और भील सरदार-गण श्रेणीबद्ध खड़े हैं।]

(नर्तकियाँ नाचती और गाती हैं।)

गाओ गाओ आनन्द बधाइयाँ।
हिंदूपति, क्षत्रिय-कुल-गौरव राणा सुख-सरसाइयाँ॥
राखी लाज आज भारत की अपुनी टेक निबाहियाँ।
जुग जुग जीये मेरे साईं तन मन धन सब वारियाँ॥

राणा—मेरे प्यारे भाइयो! आज श्रीएकलिङ्गजी की कृपा और तुम लोगों के उद्योग से यह दिन देखने में आया कि इस पवित्र स्थान से हिंदू-द्वेषी यवनों का पौरा गया और फिर आज हम लोगों ने अपनी प्यारी जन्मभूमि का दर्शन पाया। जिस स्वाधीनता की रक्षा के लिए हम लोगों के अगणित पूर्वपुरुषों ने अकुंठित हो संग्राम-स्थल में परमप्रिय जीवन विसर्जित किया था वह आज हमें जगदीश्वर की कृपा से प्राप्त हुई। इससे बढ़कर भी कोई आनंद की बात हो सकती है? प्यारे भाइयो, बस हमारा यही उपदेश है कि संसार में जीना तो अपने गौरव-सहित जीना, नहीं मरना तो हई है। आहा! महाबाहु अर्जुन का कैसा आदरणीय और अनुकरणीय सिद्धांत था—

आयू रक्षति मर्माणि आयुरन्नं प्रयच्छति।
अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्॥

कविराजा—ठीक है, पृथ्वीनाथ, आप जो आज्ञा कर रहे हैं उसे आपने प्रत्यक्ष उदाहरण स्वरूप कर भी दिखाया। आहा!

जो न प्रगट होते प्रताप भारत-हितकारी।
को करि सकत कलंकरहित हिंदू-व्रतधारी?
अकबर से उद्दंड शत्रु दरि निज प्रण राखी।
को हिंदू-गौरव को सब जग करतो साखी?
या प्रबल म्लेच्छ इतिहास में हिंदू नाम विलावतो।
को, हे प्रताप! बिनु तुव कृपा यह अपवाद मिटावतो॥

राणा—कविराजाजी, आप मुझे व्यर्थ की बड़ाई देते हैं, मैं तो निमित्त मात्र था। जो ये सब राजपूत और भील सरदारगण सहायता न करते तो मैं अकेला क्या कर सकता था? आहा! झाला महाराज मानसिंह ने तृणवत् अपना शरीर दे दिया और मुझे बचाया; महाराज खंडेराव, राजा रामसिंह ऐसे वीर पुरुषों ने मेरे लिए क्या-क्या न किया। हाय! मैं अब इनके लिए क्या कर सकता हूँ? बड़े कविराजाजी ने अपने देश की जैसी सेवा की और जिस भाँति प्राण दिया, कौन नहीं जानता? जब तक पृथ्वी रहेगी, इन लोगों का यश स्वर्णाक्षरों में मेवाड़ के इतिहास में अंकित रहेगा। प्यारे चेतक ने पशु होकर मेरा जैसा उपकार किया उससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता! मंत्रिवर, जहाँ चेतक का शरीर गिरा है वहाँ एक उत्तम समाधि बनवाई जाय और प्रतिवर्ष उसके सम्मानार्थ मेला लगा करे। मैं स्वयं वहाँ चला करूँगा। (कवि-

राज से) कविराजाजी, आप एक पर्वाना लिखिए कि जब तक मेरे और भामाशा के वंश में कोई रहे, मंत्री का पद भामाशा के वंशज को ही दिया जाय। आज मैं इन्हें प्रथम श्रेणी के सरदारों में स्थान देकर झटक-पट ताजीम, पैर में सोने का लंगर, पाग पर माँझा आदि यावत् प्रतिष्ठा बख्शता हूँ, जो इनकी सेवा के आगे सर्वथा तुच्छ है। (गुलाबसिंह के प्रति) वत्स गुलाबसिंह, तुमने अपने प्रण को जैसी दृढ़ता से निबाहा, सबको उससे शिक्षा लेनी चाहिए। आहा ! तुम्हारा और मालती का प्रेम आदर्श-स्वरूप है। तुम दोनों ने अपने-अपने प्रण को दृढ़ता पूर्वक निबाहा, इसलिए विलंब का प्रयोजन नहीं। मंत्री, मेरी ओर से मालती के विवाह की तैयारी की जाय। दायजे में जागीर आदि का सब प्रबंध मैं स्वयं करूँगा। आप एक शुभ मुहूर्त्त दिखलावें और अब इस शुभ संयोग में विलंब न करें। मैं स्वयं इन दोनों का विवाह अपने हाथ से करूँगा।

(गुलाबसिंह राणा के पैरों पर गिरता है और राणा उठाकर उसे हृदय से लगाते हैं)

(राजकुमार के प्रति) देखो, कुँवरजी ! अपने धर्म और देश-रक्षार्थ मैंने जो-जो कष्ट सहे हैं, तुमने अपनी आँखों से देखा है। देखो, ऐसा न हो कि तुम हमारे पीछे विलासप्रियता में पड़ अपने पिता का नाम डुबाओ, प्रताप की कीर्त्ति पर धब्बा लगाओ, और मरने पर मेरी आत्मा को सताओ। मेरे इन वाक्यों को सदा स्मरण रखना—

जब लौं जग में मान तबहिं लौं प्रान धारिए।
जब लौं तन में प्रान न तब लौं धर्म छाड़िए॥
जब लौं राखै धर्म तबहि लौं कीरति पावै।
जब लौं कीरति लहै जन्म सारथ कहवावै॥
हे वत्स ! सदा निज वंश की मरजादा निरबाहियो।
या तुच्छ जगत-सुख कारनै जनि कुल नाम हँसाइयो॥

(सरदारों के प्रति)

मेवाड़ की शोभा, मेरे प्यारे भाइयो,—
यह बालक अज्ञान, सौंपत तुमको आजु हम।
जब लौं तन में प्रान, मान जान जनि दीजियो॥

(सब सरदारगण सिर झुका हाथ जोड़ सजलनेत्र पृथ्वी की ओर देखते हैं।)

(नर्तकियाँ गाती हैं)

यह दिन सब दिन अचल रहै।
सदा मिवार स्वतंत्र विराजै निज गौरवहिं गहै॥
घर-घर प्रेम एकता राजै, कलह कलेस बहै।
बल, पौरुष, उत्साह, सुदृढ़ता आरजबंस चहै॥
वीरप्रसविनी वीर-भूमि यह वीरहिं प्रसव करै।
इनके वीर क्रोध मैं परि अरि कायर कूर जरै॥
राजा निज मरजाद न टारै, प्रजा न भक्ति तजै।
परम पवित्र सुखद यह शासन, सब दिन यहाँ सजै॥

जब लौं अचल सुमेरु विराजत, जब लौं सिंधु गँभीर।
तब लौं हे प्रताप तुव कीरति गावैं सब जग वीर॥
हे करुणामय दीनबंधु हरि! नित तुव कृपा बसै।
यह आरत भारत दुख तजिकै परम सुखहिं बिलसै॥
(परम प्रकाश के साथ धीरे-धीरे पटाक्षेप)

—राधाकृष्णदास

---

(१३) भानुप्रताप की कथा

किसी पूरे वर्णन में सम्मिलित प्रभाव, शील, गुण आदि का विवेचन यहाँ गोस्वामी तुलसीदास-कृत राजा भानुप्रताप की कथा के सहारे किया जाता है। पाठक महाशय उस वर्णन को पढ़कर इस कथन के देखने से विशेष आनंद पा सकते हैं। इसमें उपर्युक्त गुण-दोष न दिखलाकर हम वर्णन एवं सम्मिलित प्रभाव-संबंधी कथन करेंगे।

प्रतापभानु तथा अरिमर्दन ऐसे नाम हैं, जैसे क्षत्रियों के होने चाहिएँ। सचिव का नाम धर्म्मरुचि भी अच्छा कहा गया है। वर्णन बहुत छोटा है, इससे कवि ने उपांगों को छोड़कर कथा के मुख्यांगों ही पर ध्यान रखा है। इसी से राजा सत्यकेतु का ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर हरिसेवाहित वन जाना तो कहा गया है, परंतु यह नहीं कि पूर्व प्रथानुसार ऐसा हुआ; अथवा राजा ने अवस्था के उतरने, भक्ति-प्रचुरता,

सांसारिक अनित्यता आदि के भावों को पुष्ट मानकर ऐसा किया। इसी प्रकार सेना, युद्धों आदि का विशेष वर्णन न करके कवि ने राजा-द्वारा विश्व-विजय मात्र कह दिया।

राजा के सुराज्य का कवि ने कुछ विशेष कथन किया। कवि का राजा के साथ सहृदयता रखना कई उचित कारणों से अभीष्ट था, सो ब्राह्मणों के साथ गुप्त परामर्श-द्वारा उनके वश करने के लिए जो आगे थोड़ा सा दोष किया जायगा, उसे राजा के अन्य गुणों के आगे तुच्छ दिखाने के विचार से उसने गुणों का कुछ सविस्तर कथन पहले से कर दिया।

वर्णनवृद्धि रोकने को ही कवि ने विंध्याचल या उसके जंगल का वर्णन नहीं बढ़ाया, परंतु वाराह-कथा का कथन, जो उसके मुख्यांशों में है, कुछ बढ़ाकर किया गया। फिर भी कवि ने उसके दाँतों, रंग एवं गुरुता को छोड़ अन्य बातों पर विशेष ध्यान नहीं दिया, परंतु छोटे से वर्णन में वाराहों के कई स्वाभाविक गुण थोड़े से शब्दों में बड़ी सुंदरतापूर्वक कह दिये। बनैले शूकर का घुरघुराना, कान उठाये घोड़े को देखना, एवं उससे बचने को जोर से भागना खूब दिखाया गया है। हाथी घोड़े के निवाह न होनेवाले घने वन में विपुल क्लेश सहन करते हुए भी राजा का शूकर का पीछा न छोड़ने से उसका धैर्य दिखलाया गया है, जिसका कथन आगे प्रकट रूप से भी कवि ने किया है। इसी धैर्य के कारण कपटी मुनि और काल-केतु वाराह ने राजा को भूख, प्यास, श्रम आदि

द्वारा खूब थका लिया, जिससे वे मुनि को जान न सकें। उसने देखते ही देखते बिना कुछ कहे राजा को तालाब दिखाकर बाधित किया, जिससे आगे की कार्रवाई बढ़े और कृतज्ञतावश राजा को उस पर संदेह का विचार भी न हो। कपटी को किसी प्रकार राजा से बातचीत करनी थी, सो उसके नगर की दूरी बहुत बढ़ाकर उसने बताई, तथा रात के घोर भाव एवं वन की गंभीरता का कथन किया कि जिससे राजा रात को वहीं रहने का संकल्प करे।

बड़े कविगण जगन्मान्य सत्य सिद्धांतों का कथन करके कथा में उनके उदाहरण प्रायः दिखला देते हैं। इसी लिए कवि ने कहा है—

"तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आपु न आवइ ताहि पहँ ताहि तहाँ लेइ जाइ॥"

इस कथा का सारांश यही दोहा है। इससे राजा की आनेवाली आपदा का भी दिग्दर्शन करा दिया गया। "बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छलबल कीन्ह चहइ निज काजा।" में भी यही उपर्युक्त भाव है।

कपटी का कहना कि अब मेरा नाम भिखारी है, प्रकट करता है कि वह अपना पूर्वकालिक गौरव व्यंजित करता था, परंतु राजा ने स्वभावतः उस गौरव पर विचार न करके उसके वर्तमान ऋषिपन पर विशेष ध्यान दिया, जिससे उसने भी यह जानकर कि राजा आर्ष भाव से सहज ही ठगा जा सकता है,

अपने पूर्व महत्त्व की वार्ता को बिलकुल उड़ा दिया और अपने को एक-तनु कहकर अपनी उत्पत्ति आदि-सृष्टि के साथ बतलाई, तथा आगे चलकर यहाँ तक कहा कि "आजु लगे अरु जब ते भयऊँ। काहू के गृह ग्राम न गयऊँ॥" यदि राजा चतुर होता, तो इन कथनों का अंतर समझकर उसकी धूर्त्तता को ताड़ जाता, क्योंकि यदि वह कभी किसी के गृह-ग्राम में गया ही नहीं, तो "अब भिखारी, निर्धन रहित-निकेत" कैसे हो गया? फिर भिखारी के लिए औरों के यहाँ जाना आवश्यक है। गोस्वामीजी ने जान-बूझकर ये फेर डाल दिये हैं कि जिनसे राजा की मूर्खता प्रगट हो। उन्होंने कह दिया कि "तुलसी देखि सुबेखु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।" उन्होंने यह भी व्यंजित किया कि चतुर पुरुष विचार करके धोखे-बाजों की बातों का पूर्वापर विरोध जान सकता है। एक ओर कपटी मुनि यह भी कहता जाता था कि मैंने अब तक अपना हाल किसी को नहीं बतलाया और दूसरी ओर थोड़ी सी मुलाकात से राजा को सब हाल बतलाता जाता था। इसके उसने दो कारण दिये। एक तो यह कि उसे कभी कोई मनुष्य मिला ही नहीं और दूसरे राजा शुचि, सुमति और उसका प्रीति-भाजन था। सो वह अपने शुद्ध चरित्र कथन पर बाधित था। यदि वह किसी को भी नहीं मिला था, तो उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि की कहानी उसने कैसे जानी? यदि योग-बल से जानी हो, तो भी किसी को कभी किसी

मनुष्य का न मिलना बिलकुल अनर्गल वाद है। फिर भी राजा ने मूर्खता-वश इन बातों पर विश्वास कर लिया। इसी प्रकार थोड़े ही से कथोपकथन एवं मुनिवेष से कपटी पर पहले ही से राजा ने पूरा अनुराग दिखलाया जो बिना पूर्ण परिचय के अप्रयुक्त था। इतनी शीघ्रता से उसे राजा को शुचि, सुमति जानना तथा प्रीतिभाजन मानना भी संदेह से खाली न था। किसी को एकाएकी आदि-सृष्टि के समय उत्पन्न मान लेना मूर्खता की पराकाष्ठा है, परंतु राजा ने थोड़ी सी तप-महिमा सुनकर उसे भी मान लिया। उसे समझना चाहिए था कि उसका पहचानना किसी के लिए कठिन न था, क्योंकि उसके राजा होने से लाखों मनुष्य उसे जानते थे। फिर भी उसने कपटी मुनि की परीक्षा भी लेने में अपना नाममात्र पूछना अलम् समझा। कपटी ने नाम भी एकाएक न बतलाकर पूरे निश्चय के साथ भूमिका बाँधकर पिता के नाम-सहित राजा का नाम कहा। फिर भी उसे समझ पड़ा कि राजा शायद कुछ और पूछ बैठे और पोल खुल जाय, अतः उसने उसे सोचने और प्रश्न करने का अवसर ही न देकर तुरंत वरदान माँगने का लालच दे दिया और उसने मूर्खतावश माँग भी लिया।

वरदान देने के पीछे से प्रभाव-प्रदर्शन के उपाय छोड़कर कपटी ने कार्य-साधन की ओर ध्यान दिया और वरदान में एक त्रुटि लगा दी, जिसे दूर करने के लिए भविष्य में प्रयत्न करना

पड़े और इस प्रकार प्रयोजन बने। उसे यह भी संदेह रहा कि यदि यह किसी से ये बातें कह देगा तो वह इसे इस को प्रचंड मूर्खता पर सचेत कर देगा। इसी लिए मरण का द्वितीय कारण कथा का प्रकट करना इस धूर्त्तराज ने बता दिया। इसके पीछे ब्राह्मणों के वश करने के विषय में स्वयं कुछ न कहकर उसने राजा को ही वह प्रबंध बाँधने को छोड़ दिया। वह जानता ही था कि राजा मुझसे उसकी विधि अवश्य पूछेगा। इसी लिए अपनी ओर से एकाएकी बहुत-कुछ कहकर उसने संदेह का कारण उपस्थित नहीं किया।

राजा के पूछने पर उसने यह युक्ति भी अपने अधीन बताई, परंतु अपना प्रभाव स्थिर रखने को यह भी कह दिया कि मैं राजा के यहाँ नहीं जा सकता। फिर भी इस भय से कि प्रभाव महत्त्व के कारण शायद राजा उसे घर ले जाने का अनुरोध ही न करे, कपटी ने यह भी कह दिया कि "जौ न जाउँ तव होय अकाजू। बना आइ असमंजस आजू।" इस पर राजा ने हठ किया और वह तुरंत मान गया। किसी नये मनुष्य के एकाएक भोजन बनाने से औरों को संदेह उठ सकता था, इसी से उसने राजपुरोहित के वेष में ऐसा करना उचित समझा और तीन दिन में वहाँ का सब हाल जान लेने के विचार से इतना समय अपने हाथ में रखा। कपटी को स्वयं आश्रम ही में रहना था, अतः उसने कह दिया कि मैं पुरोहित को अपने रूप में यहीं रखूँगा।

अब कपटी का पूरा प्रबंध ठीक हो गया, सो अधिक वार्तालाप में किसी प्रश्नोत्तर-द्वारा सम्भवतः संदेह उठ पड़ने का भय समझकर उसने राजा को तुरंत सोने की आज्ञा दे दी, तथा कालकेतु की माया के सहारे स्वप्रभाव-वर्द्धन के विचार से राजा को सोते ही नगर पहुँचाने का वचन दिया और उसे पूरा भी कर दिखाया।

शूकर को कालकेतु निशिचर के स्वरूप में एकाएक आने से पाठक पर नाटक के समान भारी प्रभाव पड़ता है। "स्नमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई॥" में स्वभाव-वर्णन की अच्छी बहार है। कालकेतु के कार्यों में कर्म्म-शूरता खूब देख पड़ती है।

कपटी ने स्वयं राजा के परोसने का इसी लिए प्रबंध बाँधा था कि उसी का पूरा दोष समझ पड़े। उसने समझा था कि साल भर में कभी न कभी विप्र-मांस का हाल खुल ही जायगा। उसके भाग्यवश ऐसा पहले ही दिन हो गया। राजा ने शूकर का पीछा करने में धैर्य दिखलाया था, परंतु आकाशवाणी सुनकर बुद्धि-शून्यता से शाप से प्रथम घबड़ाकर वह कुछ भी न कह सका। वह शूरता के कर्मों में धैर्यवान् था, परंतु बुद्धि में बालकों के समान अयान था। शापोद्धार के विषय में भी उसने ब्राह्मणों से कुछ विनती न की और उन्होंने भी प्रगट में तो उसे निर्दोष कह दिया, किंतु उसकी वास्तविक कुटिलता पर विचारकर शाप-तीक्ष्णता को कुछ भी न घटाया।

कालकेतु एवं कपटी राजा ने एक वर्ष भी न ठहरकर अपने सहायकों-सहित राजनगर घेरकर भानुप्रताप का सर्व-नाश कर डाला। कवि ने इस वर्णन के पीछे विप्र तथा भावी माहात्म्य-विषयक निम्न छंद कथा के सार स्वरूप कहे—

"सत्यकेतु कुल कोउ नहिं बाँचा।
विप्र-साप किमि होइ असाँचा॥
भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम॥"

ये छंद इस कथा के अंतिम भाग में बहुत ही उपयुक्त हैं। दोहे से कवि ने प्रकट किया कि ब्राह्मण हानिकारक नहीं होते, परंतु राजा के लिए विधि-वाम होने से ऐसे ही नाशकारी हो गये, जैसे पिता तक यम-तुल्य हो सकता है।

इस कथा के राजा, कपटी मुनि और कालकेतु प्रधान पात्र हैं। राजा वीर, धैर्यवान, धर्मात्मा, परंतु मूर्ख था और कुसंगति से कुटिल तथा स्वार्थी भी हो सकता था। उसने ब्राह्मणों के साथ छल किया, जिसका फल उसे पूरा मिला। कालकेतु पूरा मायावी तथा कार्यकुशल था, परंतु कपटी मुनि की भाँति बुद्धि-वैभव दिखलाकर कार्य-साधन के प्रबंध नहीं कर सकता था। इसी लिए उसने इस धूर्त्त की सहायता ली। ये दोनों मनुष्य बदला लेने में खूब सन्नद्ध थे। कपटी मुनि बड़ा ही चतुर एवं प्रबंध-कर्त्ता था। पहले उसने राजा को भुलाया और फिर अन्य राजाओं को पत्र लिखकर युद्ध का

प्रबंध किया। उसने अपने को आदि-सृष्टि में उत्पन्न कहकर बड़ी ही संदेह-पूर्ण दशा में डाला, परंतु ऐसा कहने के पूर्व यह समझ चुका था कि राजा पूरा मूर्ख है और पूर्णतया इसके वश में है। कपटी मुनि और कालकेतु चाहते तो सोते में राजा को वहीं समाप्त कर देते, परंतु वे उसका सकुटुंब नाश करना चाहते थे; सो केवल उसे मारना उन्होंने काफी न समझा। कवि ने इस कथा-द्वारा शायद यह भी दिखाया कि ब्राह्मणों ने क्रोधवश थोड़े से अपराध पर राजा के सपरिवार नाश करने में अनौचित्य दिखलाया, जिससे समय पर रावण-द्वारा उन्हें दुःख हुआ।

इस कथा में गोस्वामीजी ने छलवार्त्ता कराने में अच्छी सफलता दिखलाई और राजा की मूर्खता प्रगट करने को कुछ ऐसे भी कथन करा दिये जिनसे बुद्धिमान् मनुष्य को संदेह होना उचित था। यदि युद्ध में कालकेतु तथा कपटी मुनि की गोस्वामीजी दुर्दशा दिखला देते, तो पाठक को अधिक प्रसन्नता होती, परंतु संक्षिप्त वर्णन के कारण वे ऐसा न कर सके।

—मिश्रबंधु

---

(१४) संतों की सहिष्णुता

भारतवर्ष वही था जहाँ हमने शताब्दियों तक राज्य किया था, हमारे शरीर में रक्त भी उन्हीं जगद्विजयी पूर्वजों का था,

हमारे घर और बाहर के टीमटाम भी वैसे ही थे। श्रावणी में हम रक्षाबंधन बाँधते थे लेकिन उसी राखी में हिंदू-जाति को एक में गूँथ देने की शक्ति बाकी नहीं रह गई थी। राम-लीला हम बदस्तूर मानते थे, लेकिन हमारे रामबाण में इतना बल कहाँ कि अत्याचारी रावण के दस सिर बेधन कर फिर वापस आ जाते। दिवाली हम करते थे लेकिन हमारे दीपकों में वह प्रकाश नहीं था जो संसार की आँखों को चकाचौंध कर देता था। होली भी हम रो-पीटकर करते ही थे लेकिन हमारा गुलाल आर्य जाति को राष्ट्रीयता के रंग में रँगने में समर्थ नहीं था। जन्माष्टमी में भगवान् का जन्मोत्सव मनाते थे लेकिन वह प्रचंड ज्योति कहाँ जिसके देखते-देखते परतंत्रता की वेड़ियाँ टूटकर गिर जायँ! वे चरण कहाँ जिनके छूने से हमारे संकट की सरिता सूख जाय! वह मोहन की मुरली कहाँ जिसकी तान हमको देश-ममता के मद में मस्त कर देती! हिंदू-जाति निष्प्राण हो गई थी, केवल बाहरी ढाँचा रह गया था। भला उससे मुगल लोग या कोई भी कैसे डरने लगे? इसलिए हम पर आघात पर आघात हुए। अत्याचार की सिल पर बेईमानी के बट्टे से नवधा भक्ति में मग्न हिंदू पीसे गये। इनको रगड़कर नौरतन की चटनी बनाई गई।

कितने मुसलमान भी औरंगजेब के तअस्सुब के शिकार हो गये। इस कट्टर मुसलमान बादशाह की नजरों में सिर्फ खुदा रसूल और कलाम मजीद का मान लेना काफी नहीं था।

किंतु मुसलमानी मजहब की हर एक बात को जब उसी तर-कीब से माने जैसा बादशाह आलमगीर मानता था, तब आदमी पक्का मुसलमान समझा जाता था। इतने पर भी अगर उस पर किसी तरह का पोलिटिकल शुबहा हुआ तो फौरन कोई मजहबी कच्चाई भी निकल आती थी। ऐसे लोगों में वे फकीर और महात्मा लोग भी थे जिनको दारा मानता और जानता था। शाहमुहम्मद नामक एक अच्छा संत था। वह बदख्शाँ का रहनेवाला और लाहौर के मशहूर साधु मियाँ मीर का चेला था। काश्मीर में उसने अपनी कुटी बनाई। उसके मुँह से ज्ञान, वैराग्य और वेदांत की अमूल्य शिक्षाएँ और मनोहर पद्य निकलते रहते थे। दूर-दूर के लोग उसके दर्शन के लिए आते थे। दारा और जहाँनारा की तरफ से भी उसकी बड़ी खातिर होती थी। बादशाह होने पर औरंगजेब ने जहाँ दारा के और दोस्तों से बदला लिया वहाँ इस फकीर पर भी उसकी कुदृष्टि पड़ी। लाहौर में आकर बड़ी मुसीबत में शाहमुहम्मद ने अपने दिन काटे।

सूफी मजहब के नाम से पाठक अपरिचित न होंगे। वह मुसलमानी लिबास में अद्वैत वेदांत का दूसरा स्वरूप है। वेदांत के "अहं ब्रह्मास्मि", "शिवोहं" इत्यादि वाक्यों के भाव को लेकर सूफी महात्माओं ने कितने ही अच्छे-अच्छे ग्रंथ और पद बना डाले हैं। शंकर भगवान्, महात्मा रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ महाराज ने वेदांत-

शिक्षा को खूब अच्छी तरह समझाया है, लेकिन इन सबसे पहले खुद योगिराज कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणस्थल में गीता-रूप वेदांत का तत्त्व संसार को भेंट किया है। जीव अमर अजर है। न वह जन्म धारण करता है, न वह बालक, युवा और न वृद्ध है। सुख-दुःख का भोगनेवाला, बंधनों में भटकनेवाला वह कोई बंदी नहीं है; वह स्वयं परब्रह्म चिदानंद, शांतिस्वरूप, अनाम, अनीह, अनंत, अपार और अच्युत है। पंचभौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर का उपयोग करते हुए भी वह इससे परे है। स्थूल और सूक्ष्मादि अनेक देह उसके मोटे-पतले भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र मात्र हैं। माता-पिता, भाई-बंधु, स्त्री और पुत्र कोई किसी का कुछ नहीं। इसका पता भी तो नहीं है कि कौन कितने दफे किसका पिता और कितनी बार किसका पुत्र हो चुका है। इसलिए महात्मा लोग संसार में रहकर भी संसार के नहीं होते। कमल का पत्ता जल में रहकर भी नहीं भीगता। जब संसार के नाते-रिश्ते थोड़ी देर के तमाशे हैं और जब जीव मरता नहीं, केवल पुराने कपड़े उतारकर नये धारण कर लेता है, तब शोक किस बात का? किसी के मरने पर गम क्यों मनाया जाय? तुच्छ शरीर से निकलकर संसार के विराट-रूप में प्रवेश करने की खुदाई को जुदाई क्यों माना जाय? इसलिए संत लोग परिवार में रहते हुए भी सदा उसको त्यागने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। वियोग होने पर वे अपने योग के पंखों पर ज्ञान-गगन में मँडराने लगते हैं। चिड़िया

टहनी पर बैठती जरूर है लेकिन टहनी कट जाने से वह उसके साथ जमीन पर नहीं गिरती, ऊपर आकाश-मंडल में उड़ने लगती है। साधु लोग धन-दौलत की भी परवा नहीं करते हैं। जब दुनिया ही फ़ानी है तब उसके माल-टाल का क्या ठिकाना ? फिर जो जगत् भर के लोगों को अपना स्वरूप मानता है वह संसार के सर्वस्व को अपना मानते हुए अपनी शान में मस्त है। बादशाह होने की वजह से आप जरूर बड़े कहे जायँगे लेकिन आपसे कहीं बढ़कर वह है, जिसने आपकी तरह असंख्य बादशाहों की सल्तनत दुनिया को माफी बख्श दी है। अमेरिका के प्रेसीडेंट ने महात्मा रामतीर्थ महाराज से कुछ माँगने के लिए कहा। राम शाहंशाह ने हँसते हुए कहा—

"बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरे शतरंज के।
दिल्लगी की चाल है सब शर्त सुलहो जंग के ॥"

ऐसे देवताओं के लिए मौत भी एक मजाक का सामान है। भीष्मपितामह ने शरशय्या पर धर्मोपदेश दिये। हजरत मसीह ने सूली पर भी अपने प्रतिवादियों के लिए प्रार्थना की, महर्षि सुकरात ने आनंद से विष का प्याला मुँह में लगाया। रामतीर्थजी महाराज ने सच्चे हिंदू की तरह भक्ति से अपना शरीर गंगा मैया को भेंट कर दिया।

"गंगा मैं तेरी बलि जाऊँ।
हाड़ माँस तुझे अर्पण कर दूँ यही फूल बताशा लाऊँ।
रमण करूँ मैं शतधारा में न तो नाम न राम कहाऊँ।"

जैसा कहा जा चुका है कि वेदांती और सूफी मजहब नाम और रूप का फर्क है। सूफी खुदा की याद में मस्त रहता है। बाग में, गुल में, बुलबुल और सरों में, कामिनी के चाँद से मुखड़े में, मस्तानी तानों में जहाँ कहीं देखता है यार की सूरत, मोहन की माधुरी मूरत नजर आती है। जब तक मंजिले-मकसूद नहीं पहुँचे, हजार झगड़े। रास्ते की दिक्कतें और लाख उधेड़-बुन हैं लेकिन जब जो जिसका था उससे मिलकर एक हो गया, फिर चिंता किस बात की। योग कैसा, भोग कैसा, रोजे और नमाज कैसे ? बस गूँगे बन-कर बैठ गये, कलमा कलाम भी भूल गये, प्यारे प्रीतम के प्रेम की लहर चारों तरफ लहरा रही है। देखकर आँखें सहम सी गई हैं।

"दरियाय इश्क वह रहा लहरों से बेशुमार।"

सरमद नाम का एक मशहूर सूफी था। दारा इसको मानता था। इसलिए यह औरंगजेब का क्रोध भाजन हुआ। औरंगजेब की आज्ञा से मक्कार मुसलमानों की एक कमेटी सरमद का न्याय करने को बैठी। चार्ज लगाया गया कि वह नंगा रहता है। अगर असल में औरंगजेब का यही मतलब था तो नागे-बैरागी पहले कत्ल होने चाहिएँ थे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सरमद का बड़ा भारी और मुख्य अपराध तो यह था कि वह दारा का मित्र था। दारा के मरने पर भी औरंगजेब डरता था कि कहीं सरमद अपनी कूवत से कुछ

बला न गिराये। औरंगजेब को पता नहीं था कि संतों के लिए न कोई मित्र है न कोई शत्रु ; और न संसार को तृण-समान जाननेवाले महात्मा को औरंगजेब की सल्तनत और शान की परवा थी। अधम औरंगजेब के अन्यायी न्याय-कारियों ने फकीर को प्राण-दंड की आज्ञा दी। लेकिन जो इन लोगों के लिए बड़ी भारी चीज थी वह सरमद के लिए महज दिल्लगी थी। जो दिन-रात प्रीतम के प्रेम में मतवाला रहता था वह कितने दिन तक उसका वियोग सह सकता था ?

"कौनसी है वह जुदाई की घड़ी जो उम्र भर,
आरजूए वस्ल में यह दिल भटकता ही रहा।"

लेकिन—

"जाकर जापर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलत न कछु संदेहू।"

जिसका जिस पर सच्चा प्रेम होता है वह अवश्य उसे मिलता है।

"पा गया बस चेहरए मकसूद को लैली के वह।
जो हुआ है मिस्ल मजनूँ बुलबुले गुलजारे इश्क।।"

मौत की आज्ञा फकीर को सुनाई गई। उसके आनंद का ठिकाना नहीं। इतने दिन अकेले रहनेवाले, जुदाई में तपनेवाले सरमद का ब्याह होगा। ब्याह होगा ऐसे पुरुष से जिससे बढ़कर संसार में या कहीं कोई भी न हुआ और न कोई होगा। वह समझता था—

"भूलो यौवन मद करे अरी बावरी बाम।
यह नैहर दिन दोय को अंत कंत से काम॥"

मंडपरूपी सूली तैयार की गई। वहीं सरमद से उसके प्यारे का मिलन होगा। पल-पल युग के समान बीत रहा है। अपने अवगुणों का ध्यान करके पैर आगे नहीं पड़ता, कलेजा दहल रहा है; आनंद, भय और लज्जा से रोमांच हो आये हैं; प्रीतम के दिव्य स्वरूप का ध्यान करके आँखें झप जाती हैं। देखते-देखते घड़ी आ गई, ओफ़ कैसा दिव्य स्वरूप है! क्या बाँकी झाँकी है!

"तेरी सूरत से नहीं मिलती किसी की सूरत।
हम जहाँ में तेरी तस्वीर लिये फिरते हैं॥"

देखते-देखते विवाह की घड़ी आ गई। अब प्रीतम सरमद के सिर में सिंदूर भरेंगे। उसके सिर में लालिमा की रेखा दौड़ेगी। ऐसे बड़े का व्याह, फिर चुटकी से जरा सा सिंदूर थोड़े ही लगाया जायगा। प्रेम में भीगे हुए, मस्ती में चूर प्रेमियों की शादी! सर्वांग लाल करना होगा, खड्ग-शृंगार किया जायगा। सरमद माथा खोले, सिर नीचे किये, संकोच से सिकुड़ा हुआ खड़ा है। प्यारे ने आकर हाथ से ठुड्डी पकड़ मुँह ऊपर उठा दिया, आँखें मिल गईं, अंतर न रहा, बिछुड़े हुए मिलकर एक हो गये। जो तुम वही हम और जो हम वही तुम; जब ऐसी बात है फिर हम और तुम का भेद कहाँ!

"दरस बिनु दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे मेरे प्रभुजी कबहुँ न पायो चैन॥"

"हमरी उमिरिया होली खेलन की,
पिया मोसे मिलिके बिछुर गयो हो।
पिय हमरे हम पिय की पियारी,
पिय बिच अंतर परि गयो हो।
पिया मिलैं तब जियों मोरी सजनी,
पिया बिनु जियरा निकर गयो हो।
इत गोकुल उत मथुरा नगरी,
बीच डगर पिय मिल गयो हो।
धरमदास बिरहिन पिय पाये,
चरन कमल चित गहि रहो हो।"

अब सूली पर चढ़ा सरमद और सामने उसका मनचोर माखनचोर हरी—

"यार को हमने जा-बजा देखा।
कहीं जाहिर कहीं छिपा देखा॥"

"गुम कर खुदी को तो तुझे हासिल कमाल हो।"

खड्ग ने अपना काम किया, सरमद और उसके प्रीतम मिलकर एक हो गये। प्रेम के गीत गाता हुआ सरमद बिदा हो गया।

"साकी ने अपना हाथ दिया भरके जाम सोज,
इस जिंदगी के कैफ का टूटा खुमार आज।"

महात्मा इस लोक से हँसते-हँसते विदा हो गया। उसके नश्वर शरीर का नाश हो गया लेकिन अपना अमर नाम वह छोड़ गया और हमारे लिए "अनल-हक" का उपदेश। सज्जन लोग दूसरों के लिए कष्ट उठाते हैं, कष्ट को वे कष्ट ही नहीं समझते। तो सोने की परीक्षा कैसे हो ? खराद पर चढ़े बिना हीरे की जाँच कैसे हो ?

"किया दावा अनलहक का हुआ सरदार आलम का,
अगर चढ़ता न सूली पै तो वह मंसूर क्यों होता ?"

अत्याचार का मुख्य प्रयोजन होता है लोगों को दबाना लेकिन परिणाम इसका उलटा होता है। दुनिया के इतिहास में जहाँ कहीं आप देखेंगे अत्याचार से असंतोष का फैलना पाया जाता है। रगड़ लगने से चंदन-वन में भी आग लग जाती है। उसी तरह औरंगजेब के ज़ुल्म ने मरी हुई जाति को सचेत कर दिया। अकबर की कुटिल नीति के क्लोरोफार्म से जो बेहोश हो गये थे उनको झोंके देकर औरंगजेब ने होश में ला दिया। साधु सिक्ख प्रबल योद्धा हो गये, लुटेरे मरहठे फतेहयाब दुश्मन हो गये, अपनी मर्यादा से गिरे हुए राजपूत फिर कमर कसकर खड़े हो गये।

इनके अतिरिक्त सतनामियों ने भी अत्याचार सहकर सर उठाये थे। एक मुसलमान सिपाही ने कुछ सतनामी किसानों को सताया जिससे पीड़ित होकर उन लोगों ने उसको दंड दिया। मुसलमानी राज्य में मार खाकर भी मुसलमान सिपाही

को मारने का हिंदुओं को क्या हक़ था ? सतनामियों को दंड देने के लिए कुछ सिपाही भेजे गये जो परास्त हुए। अंत में एक बड़ी सेना-दंड देने के लिए भेजी गई। बहादुर सतनामी, सामान के न होते हुए भी, बड़ी वीरता से लड़ते रहे। अंत में परास्त हुए और हजारों की संख्या में मारे गये।

—मन्नन द्विवेदी

---

(१५) कर्तव्य और सत्यता

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परमधर्म है और जिसके न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारंभिक अवस्था में कर्तव्य का करना विना दबाव से नहीं हो सकता, क्योंकि पहले-पहल मन आप ही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरंभ पहले घर से ही होता है, क्योंकि यहाँ लड़कों का कर्तव्य माता-पिता की ओर और माता-पिता का कर्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, स्वामी-सेवक और स्त्री-पुरुष के भी परस्पर अनेक कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ोसियों और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्तव्यों को देखते हैं। इसलिए संसार में, मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरा पड़ा है; जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस, इसी कर्तव्य का

पूरा-पूरा पालन करना हम लोगों का धर्म है; और इसी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ उसे कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तब बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुखी होता है। लड़को! तुमने बहुत देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कहकर खाना था। इसी प्रकार का एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुराकर नहीं खाता सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम लोगों का यह कर्तव्य है कि हम कभी चोरी न करें। परंतु जब हम चोरी कर बैठते हैं तब हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसके अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे तब कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-

पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा पर इससे तुम साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठग-विद्या और असत्य-परता से धनाढ्य हो गये और तुम कंगाल ही रह गये। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी करके बड़ी-बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्तव्य धर्म को कभी न छोड़ो और देखो इससे बढ़कर संतोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता है। हम लोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इस-लिए हम लोगों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें और कभी उसके पथ पर से न हटें; चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिंता नहीं।

धर्मपालन करने के मार्ग में सबसे अधिक बाधा चित्त की चंचलता, उद्देश्य की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान, और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अंत में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मानकर अपने धर्म का पालन करता है

और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे, बिना अपना स्वार्थ सोचे, झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा करते-करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तब फिर किसी बात का भय न रहेगा। देखो, इस संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हो गये हैं, जिन्होंने संसार का उपकार किया है और उसके लिए आदर और सत्कार पाया है, उन सभों ने अपने कर्तव्य को सबसे श्रेष्ठ माना है, क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किये उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का बर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अँगरेजी जहाज में, जब वह बीच समुद्र में था, एक छेद हो गया। उस पर बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा-पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तब जितनी स्त्रियाँ उस पर थीं सब नावों पर चढ़ाकर बिदा कर दी गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गये थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते

उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों के त्यों खड़े रहे; उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग नहीं किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसी लिए उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएँ। इसी के विरुद्ध फ्रांस देश के रहनेवालों ने एक डूबते हुए जहाज पर से अपने प्राण तो बचाये, किंतु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निंदा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करता है वह अपने कामों और वचनों में सत्यता का वर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता। यदि किसी के घर सब लोग झूठ बोलने लगें तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इसलिए हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी वर्ताव न करना चाहिए। अतएव

सत्यता को सबसे ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कादरता के कारण होती है। बहुत से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना और क्रुद्ध होना न चाहिए जब उनके नौकर भी उनसे अपने लिए झूठ बोलें।

बहुत से लोग नीति और आवश्यकता के बहाने झूठ की रक्षा करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बनाकर कहना, नीति के अनुसार, समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत से लोग किसी बात को सत्य-सत्य कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा-फिराकर कहते हैं कि जिससे सुननेवाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उलटा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार कम नहीं।

संसार में बहुत से ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपाकर धोखा देने या झूठ बोलकर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट बोलने से अधिक निंदित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेष बदलना, झूठमूठ दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य को न बोलना इत्यादि। जब कि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तब ये सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँहदेखी बातें बनाया करते हैं, परंतु करते वही काम हैं जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सबको मूर्ख बनाकर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडंबर रखनेवाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परंतु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडंबर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा संतोष और

आनंद होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्त्तव्य-पालन कर सकता है।

इसलिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सबसे श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान हो सकेगा और हम आनंदपूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। क्योंकि सच को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा संतुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

—श्यामसुंदरदास

---

(१६) साहित्य की महत्ता

ज्ञान-राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसंपन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलंबित रहती

है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठने का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिंब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ-साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप निःसंदेह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बंद कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह

काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालांतर में निर्जीव सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसंपन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रांत है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही साहित्य-निर्माण के आडंबर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर जरा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं।

साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिंदा करनेवाली संजीविनी ओषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अँगरेजी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बंद नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मंद जरूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलनेवाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इँगलैंड चिर काल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ-रचना करने का विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ांत ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय

और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिएँ। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परंतु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म्म है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

---

(१७) उसने कहा था

(१)

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे

हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसाजी', 'हटो भाईजी', 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा', कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्ताँ प्यारिए; बच जा, लंबी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

'मगरे में;—और तेरे ?'

'माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है ?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—

'तेरी कुड़माई (=सगाई) हो गई ?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, या दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब

फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तब लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध, बोली—'हाँ, हो गई।'

'कब ?'

'कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले (=खोमचेवाले) की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दसगुना जाड़ा, और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखता नहीं;—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक् से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी मेम के बाग में—मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जरनल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुसकुराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है" लहनासिंह बोला—"पर करें क्या? हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं

और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा (=पुरोहित) बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ (=स्त्री) को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम—"

"चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ

तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और "निमोनिया" से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मराने की बात लगाई है! मरे जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कुछ गाओ।"

\+ + + + +

कौन जानता था कि दाढ़ियांवाले, घरबारी सिख गंदे गीत गायँगे, पर सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरान-कोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो ?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।"

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूँठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—"सूबेदार हजारासिंह !"

"कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुजूर" कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काट-कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कंबल उतार-कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहना-सिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबे-

दार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल-कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

"लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमंट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिंदुस्तान कब जायँगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसंद नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे"—"हाँ, हाँ—वही जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था?" "बेशक, पाजी कहीं

का"—"सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायेंगे।" "हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया"—"ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे!"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

"कौन? वजीरासिंह?"

"हाँ, क्यों लहना? क्या कयामत आ गई? जरा तो आँख लगने दी होती?"

(४)

"होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने

इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा (=ससुरा) साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"तो अब ?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं—"

"ऐसी-तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो!"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया।

तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आह ! माई गाड" कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला— "क्यों लपटन साहब ? मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना "डैम" के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की ज़ेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानों जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिएँ। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिंदुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपालक्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया" और औरों से सब हाल कह दिया। बंदूकें लेकर सब तैयार हो गये। लहना

ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

अचानक आवाज आई "वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी का खालसा!" और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा!! सत श्री अकाल पुरुख!!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी।

उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिय। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन, और कागजात पाकर, वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई-वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर-अंदर आ पहुँचीं। फील्ड-अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सवेरे देखा जायगा। बोधसिंह ज्वर

में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगंद है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।"

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × × × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कह-कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।"

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजीमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और

बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे।

सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार बेड़े में से निकलकर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजीमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबे-दार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वजीरा, पानी पिला"—उसने कहा था।

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों (=स्त्रियों) की एक घँघरिया पलटन

क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वजीरासिंह, पानी पिला"—उसने कहा था।

× × × × ×

लहना का सिर अपनी गोदी पर रखे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन ? कीरतसिंह ?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—हाँ।

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ (= आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरासिंह के आँसू टप्-टप् टपक रहे थे।

× × × × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

—चंद्रधर शर्मा गुलेरी

---

(१८) श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता

संसार में अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए, हो रहे हैं और आगे भी होंगे; पर अब तक जो हुए हैं, उनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसके साथ श्रीकृष्ण की तुलना की जा सके। भारत-वर्ष में भगवान् बुद्धदेव जैसे सर्व-संग-परित्यागी धर्मोपदेशक; परिव्राजकाचार्य श्रीमत् शंकराचार्य जैसे धर्म-संस्थापक; राजा हरिश्चंद्र जैसे सत्यवादी; दधीचि जैसे आत्म-त्यागी; शिवाजी जैसे गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक स्वराज्य-स्रष्टा; गुरु गोविंदसिंह जैसे धर्मवीर आदि असंख्य महात्मा और प्रतापी पुरुष हुए। अन्य

देशों में भी ईसा और महम्मद जैसे धर्म-संस्थापक, हैनिबाल जैसे महाप्रतापी दिग्विजयी योद्धा, वाशिंगटन जैसे उदार-चरित्र, अब्राहम लिंकन जैसे परम-निःस्पृह विश्व-बंधु आदि अनेक असंख्य महापुरुष अवतीर्ण हुए; पर इनमें से कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसका चरित्र श्रीकृष्ण के समान सर्वांगीण हो। कोई धर्म-संस्थापक था, कोई वीर था, कोई त्यागी था, कोई परमभक्त था, कोई विश्व-बंधु था, कोई स्वराज्य-संस्थापक था, पर सब बातें एक साथ किसी में नहीं थीं। इसी लिए श्रीकृष्ण के साथ इनमें से किसी की तुलना नहीं हो सकती। यदि श्रीकृष्ण के साथ तुलना करने के योग्य कोई वैसा ही आदर्श महापुरुष अवतीर्ण हुआ था, तो वे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचंद्र थे, जिनकी कीर्ति आज भी भारत की दसों दिशाओं में व्याप्त है और जिनका घर-घर में गुण-गान होता है; परंतु भगवान् रामचंद्र भी श्रीकृष्णचंद्र के सामने नहीं ठहरते; क्योंकि यद्यपि भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण से संसार को सदाचरण का मार्ग दिखलाकर धर्म-राज्य की स्थापना की थी, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण के समान स्वमुख से धर्मोपदेश नहीं किया था। श्रीकृष्ण ने धर्म-राज्य और धर्म-क्षेत्र की स्थापना की। उन्होंने राज्य-क्रांति की और सामाजिक तथा धार्मिक क्रांति भी की। श्रीरामचंद्रजी की तुलना में श्रीकृष्ण की यही विशेषता है। इसके अतिरिक्त रामचंद्र राज-पुत्र थे और श्रीकृष्ण कारा-गृह में पैदा हुए थे, गौएँ चरानेवालों में पले थे और

सर्वत्र राज्य-क्रांति कराकर आप स्वयं राजा नहीं हुए—बल्कि राज्य-क्रांति कराकर सदा धर्म का उपदेश करते हुए चले गये। उन्होंने धर्म-राज्य की स्थापना की और हिंदू-धर्म का अद्वितीय और सर्व-मान्य ग्रंथ भी निर्माण किया, जो केवल हिंदुस्थान में ही नहीं, आज सारे संसार में पूज्य माना जाता है। आज "श्रीमद्भगवद्गीता" ही हिंदू-धर्म का आधार है और संसार में इसके जोड़ का दूसरा ग्रंथ ही नहीं है। इस बात को पश्चिमी देशों के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। महाभारत-काल के पश्चात् भारत में जिन-जिन महात्माओं ने अवतीर्ण होकर हिंदू-समाज की व्यवस्था बाँधी है, उन सबको अपनी व्यवस्था सुस्थिर रखने और उसे सर्व-मान्य कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के इस अलौकिक ग्रंथ का ही आधार लेना पड़ा है। यही श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता है, जिसके कारण किसी महापुरुष से उनकी तुलना नहीं हो सकती।

श्रीकृष्ण जिस समय पैदा हुए, उस समय भारतवर्ष में अफगानिस्तान के गांधार (कंदहार) प्रदेश से लेकर प्राग्ज्योतिष याने आसाम तक और काश्मीर से सह्याद्रि-पर्वत-परंपरा के और भी दक्षिण में, बहुत दूर तक, हिंदू-आर्य-क्षत्रियों के अनेक छोटे-बड़े स्वतंत्र राज्य थे और सभी राज्य धन-धान्य-समृद्ध तथा ऐहिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए थे। स्थान-स्थान में बड़े-बड़े नगर और व्यापार-केंद्र थे तथा बड़े-बड़े राजप्रासादों, सरोवरों, उद्यानों और क्रीड़ा-स्थलों से देश परि-

पूर्ण था। सभी राजा प्रतापी और वीर थे, सभी स्वतंत्र थे, पर कोई चक्रवर्ती राजा नहीं था, यद्यपि उस समय मगध-देश के राजा जरासंध की धाक सबसे अधिक बैठी थी और यदि कोई राजा किसी को कुछ समझता था, तो जरासंध को ही। जरासंध ने कितने ही राजाओं को अपने यहाँ कैद भी कर रखा था, जिससे सब राजा उससे डरते और उसका लोहा मानते थे। जरासंध ने जो इतने राजाओं को अपने यहाँ कैद कर रखा था, उससे यह मालूम होता है कि जरासंध को अपने बल का बड़ा अभिमान था और वह सर्वत्र अपने ही राज्य का विस्तार किया चाहता था। उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए राज्यों में पहली बात जो हम देखते हैं, वह यही है—अपने बल का गर्व और लोभ। चेदिदेश के राजा शिशुपाल आदि और भी अनेक गर्विष्ठ राजा उस समय मौजूद थे। प्राग्ज्योतिष का राजा जैसा बलवान् था, वैसा ही विलासी और दुराचारी भी था। उसने अपने राज्य में ऐसा दुराचार आरंभ किया था कि अपने भोग-विलास के लिए उसने सोलह हजार एक सौ सुंदरी कुमारियाँ चुनकर अपने रंगमहल में ला रखी थीं। दूसरी बात यही विलासिता और अनाचार है। तीसरी बात—कंस के दरबार में यह अत्याचार दिखाई देता है कि उसने अपने पिता, परम नीतिमान् महाराज उग्रसेन को कैद कर राजगद्दी पाई थी और वह प्रजा पर असह्य अत्याचार कर रहा था। चौथी बात—पांचाल देश

में कौरव-पांडव का भयंकर अंतः-कलह है। इस अंतः-कलह के साथ-साथ विलासिता, दुराचार और अमानुषी अत्याचार तथा सत्यानाशी गर्व की मूर्त्तियाँ भी मौजूद थीं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय इन स्वतंत्र हिंदू-राज्यों की ऐहिक उन्नति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी पर इन राजपुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो चुका था। जब राजा तथा राजपुत्रों का ही चरित्र भ्रष्ट हो, तब प्रजा कहाँ से सुखी हो सकती है ? इसी लिए प्रजा को दुःख था और पृथ्वी के लिए यह पाप का बोझ असह्य हो उठा था।

भारत की उस समय राजनीतिक अवस्था क्या थी ? यह ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा। अब उस समय की सामाजिक अवस्था का निरीक्षण कीजिए। राज-पुरुषों के चरित्र भ्रष्ट हो रहे थे; पर स्त्रियों में अभी तक धर्म बाकी था। दुर्योधन जैसे पापी, दुष्ट और ईर्ष्यालु की माता और धृतराष्ट्र जैसे नयनों के साथ हिये के भी अंधे की स्त्री गांधारी, पाति-व्रत-धर्म की प्रत्यक्ष प्रतिमा हैं! धृतराष्ट्र अंधे थे, इसलिए इस साध्वी स्त्री ने भी जन्म भर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी। "पति जब अंधे हैं, तब ये नेत्र लेकर मैं क्या करूँगी ?" धन्य हो देवी! पातिव्रत-धर्म का ऐसा दृष्टांत भारतवर्ष के इतिहास में ही मिल सकता है। यह सच है कि द्रौपदी के पाँच पति थे पर इससे यह मालूम होता है कि उस समय ऐसी प्रथा रही होगी। आज भी हिमालय के पहाड़ों में

रहनेवाली जातियों में ऐसी प्रथा देखने में आती है। परंतु द्रौपदी पतिव्रता थी, इसमें संदेह ही क्या है? उसका पाति-व्रत-धर्म उतना ही ज्वलंत है, जितना भगवान् रामचंद्र की अर्द्धांगिनी का या किसी एक-पतिवाली सती स्त्री का। यह उसके पातिव्रत-धर्म का ही प्रताप था जो कौरवों की सभा में भगवान् ने उसकी लाज रखी। पातिव्रत-धर्म के संबंध में उस समय भी वही भाव थे, जो आज हैं, बल्कि यह कहिए कि स्त्रियों का सतीत्व-धर्म ही उस समय हिंदू-समाज की रक्षा कर रहा था। पति के संग जलकर सती हो जाने की प्रथा उस समय भी थी और नकुल-सहदेव की माता, माद्री, अपने पति पांडु के साथ एक चिता पर जलकर पति के पीछे-पीछे स्वर्ग गई थीं; परंतु सभी स्त्रियाँ नहीं जलती थीं। वे पति के पीछे भी संसार में रहकर अपना धर्म निबाहतीं और कर्त्तव्य-पालन करती थीं। उस समय स्त्रियाँ शास्त्र समझती और शास्त्र की चर्चा भी करती थीं। पर यह कल्पना रूढ़ हो चली थी कि स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार नहीं है—जैसा कि गीता के एक श्लोक से प्रतीत होता है। क्षत्रिय-राजाओं और राजस्त्रियों के इस वर्णन से उस समय की सर्व-साधारण स्त्रियों की स्थिति का भी अनुमान हो सकता है।

उस समय की परिस्थिति में एक बात विशेष रूप से यह दिखाई देती है कि ब्रह्म-बल से क्षात्र-बल की प्रतिष्ठा अधिक हो चुकी थी। उस समय भी नगर से दूर तपस्वियों और ऋषियों

के आश्रम, गुरुकुल और विद्यापीठ थे, जहाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय एक साथ रहकर गुरु की सेवा करते हुए वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करते थे। साथ ही गुरु राजा के नौकर होकर भी रहते थे। जिस प्रकार एक ओर सर्वतंत्र-स्वतंत्र सांदीपनी ऋषि का आश्रम था, जहाँ श्रीकृष्ण और सुदामा ने एक साथ विद्या पढ़ी थी, उसी प्रकार हस्तिनापुर की राजधानी में राजा के मातहत रहकर गुरु द्रोणाचार्य राज-पुत्रों को पढ़ाते और एक प्रकार से सेवा-वृत्ति करते थे, जिसके कारण कौरव-पांडव-युद्ध में उन्हें कौरवों का साथ देना पड़ा था। ब्राह्मण इस प्रकार अपने पद से पृथक् हो रहे थे और अनेक ब्राह्मणों ने ब्रह्म-कर्म छोड़, क्षत्रिय-वृत्ति धारण कर ली थी। इसी प्रकार यादवादि अनेक क्षत्रियों ने क्षात्र-वृत्ति छोड़कर वैश्य-कर्म अंगीकार कर लिया था। इससे यह मालूम होता है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भंग होने लगी थी। परंतु यह बात नहीं है कि उस समय धर्मज्ञ ऋषियों और ब्राह्मणों का अभाव हो। सांदीपनी ऋषि का नाम ऊपर आ ही चुका है। भारतकार श्रीकृष्ण द्वैपायन जैसे परम तपस्वी और ब्रह्म-ज्ञानी लोग भी उस समय मौजूद थे। परंतु ये लोग राज-काज आदि सांसारिक कार्यों में दखल नहीं देते थे। ये एकदम निवृत्ति-परायण हो गये थे। इनकी निवृत्ति-परायणता और राजपुत्रों की प्रवृत्ति-परायणता देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय एक तरफ निवृत्ति-मार्ग की पराकाष्ठा थी, तो दूसरी तरफ

प्रवृत्ति-मार्ग की। निवृत्ति-मार्ग के लोग संसार को माया समझकर वनवास और संन्यास को ही परम पुरुषार्थ समझते थे और प्रवृत्ति-मार्ग के लोग सांसारिक सुखोपभोग के परे कुछ देखते ही न थे। राजाओं को यह जरूरत नहीं जान पड़ती थी कि हम ऋषि-मुनियों या वेद-वेत्ता ब्राह्मणों से सलाह लें। ब्राह्मणों को भी राज-काज में दखल देना मोक्ष-धर्म के प्रतिकूल मालूम होता था। इस तरह राज-धर्म और मोक्ष-धर्म का परस्पर संबंध ही टूट चुका था। आज जिसे हम पाश्चात्य सभ्यता कहते हैं, जिसका आधार केवल सांसारिक सुख-साधनों की वृद्धि है, उसी सभ्यता के लक्ष्यहीन मार्ग पर यहाँ का राज-वंश चल रहा था। हाँ, कुछ अपनी प्राचीन सभ्यता के अभिमानी लोग भी थे, परंतु राज्य-सूत्र उनके हाथ में नहीं था। यही नहीं बल्कि राज-काज से उनका जी ऊब गया था और वे सब काम-धाम छोड़कर हरि-नाम में रत हो जाना ही मोक्ष का एकमात्र उपाय मानते थे। उस काल के धर्म-परायण पुरुषों के कैसे विचार थे, वे अर्जुन के मुख से प्रकट होते हैं, जो कहता है कि मुझे राज्य नहीं चाहिए, मैं युद्ध न करूँगा, भिक्षाटन करके रहूँगा और ईश्वर की आराधना करूँगा। इस तरह धर्म-परायण लोग राज-काज को धर्म नहीं समझते थे और राज-काजी लोग धर्म से कोई नाता नहीं रखते थे।

यही तो साधारणतः ब्राह्मणों और क्षत्रियों की अवस्था थी। वैश्यों का यह हाल था कि वे गौएँ चराते और खेती

करते थे; परंतु ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हें मोक्ष के अधिकारी नहीं समझते थे। उनकी अवस्था सर्वसाधारण स्त्रियों की सी थी। उनमें शिक्षा का प्रचार नहीं था। वे वेदों और उपनिषदों के गहन तत्त्व नहीं समझ सकते थे। शूद्रों की अवस्था तो और भी खराब थी। एकलव्य के दृष्टांत से यह मालूम हो जाता है कि शूद्रों को धनुर्विद्या का भी अधिकार नहीं था और वे समाज के बाहर ही समझे जाते थे। आर्यों में उनकी गणना नहीं होती थी। इस प्रकार उस समय समाज-शृंखला के टुकड़े-टुकड़े हो चुके थे।

तात्पर्य यह है कि जिस समय श्रीकृष्ण पैदा हुए उस समय राज-सूत्र अधर्मी राजाओं के हाथ में था; चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड़ गई थी; स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों का मोक्ष का अधिकार भी नहीं माना जाता था; क्योंकि वे सदा संसार में ही रत रहते थे और धर्म-परायण पुरुषों की इतनी अधिक उन्नति हुई थी कि त्यागियों का एक अलग समाज ही स्थापित हो गया था और वे लोग राज-काज से अलग हो गये थे। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों की आत्यंतिक उन्नति हो गई थी। एक ओर अधर्म की प्रबलता थी तो दूसरी ओर धर्म की; पर अधर्म को मारकर धर्म को राजगद्दी दिलानेवाला कोई न था। इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ।

जिस समय श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, उस समय सर्वसाधारण लोगों के विलक्षण भाव थे। लोग अधर्म का

प्रतिकार यथाशक्ति कर रहे थे। इस काम में आत्मबलिदान की सीमा हो चुकी थी। वासुदेव के छः बच्चों को कंस ने मार डाला था। प्रजा का मन संतप्त और क्षुब्ध था और सब मना रहे थे कि किसी तरह इन अधर्मियों के राज्य का सत्यानाश हो।

भाद्र कृष्ण अष्टमी की रात को, रोहिणी नक्षत्र में, आकाश से पर्जन्य-वृष्टि और विद्युल्लता कड़कने के साथ श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। रातों-रात वसुदेव उस बालक को गोकुल में पहुँचा आये। गोकुल में गौओं और गोपों के बीच में उनका लालन-पालन हुआ। ये गोप कौन थे? यादव-कुल के अनेक क्षत्रियों ने क्षात्र-वृत्ति छोड़ दी थी; वे वैश्यों का पेशा करने लगे थे। इस तरह ये गोप वैश्य भी थे और क्षत्रिय भी। इनमें अनेक शूद्र भी रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। ये गोप नगर-निवासी नहीं थे। नगरों से दूर स्थानों में ये अपनी गौओं के साथ कभी यहाँ, कभी वहाँ, इस तरह बनजारों के समान रहते थे। इनका स्वभाव सरल था, ये सहृदय होते थे, ईश्वर के अस्तित्व में इनका विश्वास था; पर इनमें आर्य-संस्कृति नहीं थी—वर्णाश्रम-धर्म का पालन नहीं था। ऐसे लोगों में पलकर श्रीकृष्ण बढ़ने लगे। गोपों का निष्कपट प्रेम, वनों का स्वतंत्र समीर और सरस जीवन का निष्पाप वायु-मंडल—इन बातों ने सुंदर-शरीर-धारी श्रीकृष्ण को निष्कपट प्रेमी और अतुल पराक्रमी बना दिया। बचपन

में ही उन्होंने शरीर-सामर्थ्य के अद्भुत पराक्रम किये। वे गोपों के प्राण थे और गोप उन पर अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहते थे। गोप मल्ल-विद्या में बड़े प्रवीण थे। श्रीकृष्ण उसमें उनके अग्रणी हुए। दिन-दिन गोपों और गोपाल का बल बढ़ने लगा। कंस घबरा उठा। उसे सर्वत्र कालरूप कृष्ण दिखाई देने लगे। जल में, स्थल में, नभ में—सर्वत्र श्रीकृष्ण की काल-मूर्त्ति आविर्भूत होकर उसे डराने लगी। कृष्ण को मारने के लिए कंस ने जाल बिछाया; पर उसमें वह आप ही जा फँसा और अंत में मारा गया।

श्रीकृष्ण ने कंस को मारकर उसका राज्य स्वयं नहीं लिया। उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठाकर वे आप एक साधारण प्रजाजन की भाँति अपने माता-पिता के पास मथुरा में रहने लगे। पर मथुरा की इस राज्य-क्रांति से भारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण का नाम फैल गया और उस समय जो राजा राज्य करते थे, वे श्रीकृष्ण को अपना शत्रु मानने लगे। जरासंध तो आग-बबूला हो उठा; क्योंकि एक तो श्रीकृष्ण के रूप में उसकी अधर्म-पूर्ण सार्व-भौम सत्ता के लिए एक नया शत्रु खड़ा हो गया और दूसरे, उसका दामाद कंस उन्हीं के हाथों मारा गया था। इसलिए जरासंध ने मथुरा पर चढ़ाई कर दी। मथुरा पर आये हुए इस संकट को टालने के लिए श्रीकृष्ण वहाँ से भाग गये। जरासंध ने मथुरा से अपनी सेना हटा ली और श्रीकृष्ण का पीछा किया। गोमंत-पर्वत पर श्रीकृष्ण

ने जरासंध आदि की अपार सेना का जिस वीरता और रण-कौशल के साथ संहार किया, इतिहास में उसका कहीं जोड़ नहीं है। इस युद्ध के पश्चात् करवीर-राज के साथ श्रीकृष्ण का युद्ध हुआ और उसमें करवीर-नरेश 'शृगाल' मारा गया। यह राज्य भी श्रीकृष्ण ने स्वयं नहीं लिया; बल्कि शृगाल के पुत्र को गद्दी पर बिठाकर आप और आगे बढ़े और एक समुद्र-वेष्टित द्वीप में अपनी छावनी और राजधानी स्थापित की, जिसे द्वारका कहते हैं। पर श्रीकृष्ण द्वारका के भी स्वयं राजा नहीं हुए। ये सब पराक्रम करके जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा को फिर लौट आये, उस समय मथुरावासियों को यह आशा थी कि श्रीकृष्ण बड़े ठाट-बाट के साथ आवेंगे, पर श्रीकृष्ण एक साधारण गोप के वेष में ही मथुरा पहुँचे। उनका वह गोप-रूप समस्त राजाओं की समवेत राज्य-श्री से अधिक तेजस्वी और दिव्य था। आगे चलकर श्रीकृष्ण ने जरासंध का वध कराया; पर वहाँ भी उन्होंने उसके पुत्र सहदेव को ही राजगद्दी पर बिठाया। फिर पौंड्रक वासुदेव को मारकर उन्होंने उसका राज्य भी उसी के पुत्र को सौंप दिया। इस तरह श्रीकृष्ण ने अपने पराक्रम की सर्वत्र धाक तो बैठा दी; पर राज्य किसी का नहीं छीना। उन्होंने कंस का वध कर मथुरा में नीति और न्याय का राज्य स्थापित किया। उन्होंने जरासंध का वध कराके राजाओं को कैद से छुड़ाया और नरकासुर का नाश करके सोलह हजार एक सौ

कुमारियों को मुक्त किया, जो श्रीकृष्ण के साथ ही द्वारका में आकर रहने लगीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थान-स्थान में राज्य-क्रांति कराने में श्रीकृष्ण का कोई महान् उद्देश्य था—उसमें उनके स्वार्थ का लेश भी नहीं था।

गोमंत से लेकर आसाम तक सारे भारत को एक बार पदाक्रांत करके श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को भारत का सार्वभौम सम्राट् निर्वाचित करने का उद्योग किया। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ करने का यही मतलब है। यह राजसूय-यज्ञ करके किसी को चक्रवर्ती-राजा मानने की क्या आवश्यकता थी और युधिष्ठिर को वह पद क्यों दिया गया? भारत-व्यापी भिन्न-भिन्न राज्यों को एक सूत्र में बाँधकर एकता स्थापित करने का उद्योग प्राचीन काल से होता चला आया है। इस उद्योग को सब लोग एक महान् पुण्य-कर्म समझते थे। इसकी उपयोगिता आधुनिक राजनीति-जिज्ञासु भी समझ सकते हैं। प्रिंस बिस्मार्क ने जिस प्रकार जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों को एक करके एक महान् शक्तिशाली जर्मन-साम्राज्य स्थापित किया, श्रीकृष्ण का यह उद्योग भी बाह्यतः उसी प्रकार का था। परंतु इसमें और उसमें बड़ा भारी अंतर इस बात का है कि इसका उद्देश्य धर्म-संस्थापन था और उसका इसके विपरीत। इसी लिए इस राजसूय में चेदिदेश के राजा शिशुपाल जैसे महाप्रतापी राजाओं ने पुण्य-कर्म जानकर ही योग दिया था। परंतु युधिष्ठिर ही सम्राट् क्यों माने गये?

उनसे अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान् राजा भी अनेक थे। परंतु युधिष्ठिर के समान धार्मिक, दयावान्, न्याय-पूर्ण, सत्यवादी, सत्य-प्रतिज्ञ और सत्य-कर्मा दूसरा न था। युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और इसी से धर्म-रक्षा के लिए किये जानेवाले राजसूय-यज्ञ में धर्मराज का ही राज्याभिषेक कराया गया। इस प्रकार धर्म-रक्षणार्थ साम्राज्य-स्थापन का महान् उद्योग सफल हुआ; पर धर्मराज्य में अभी अनेक विघ्न थे। कंस, जरासंध आदि का वध हो चुका था, श्रीकृष्ण और पांडवों की धाक जम गई थी, युधिष्ठिर का साम्राज्याभिषेक भी कराया जा चुका था; पर भीतर ही भीतर राजाओं के षड्यंत्र चल रहे थे। श्रीकृष्ण राजसूय से लौटकर द्वारका पहुँचते हैं, तो क्या देखते हैं कि वहाँ शत्रुओं ने द्वारका पर चढ़ाई करके नगर बरबाद कर डाला है। श्रीकृष्ण इधर शत्रुओं से लड़ते हैं, उधर पांडव कौरवों के जाल में फँसते हैं। पांडव जुए में हारकर बारह वर्ष वन-वास और एक वर्ष अज्ञातवास के लिए चले जाते हैं। श्रीकृष्ण को चैन नहीं है। जिस दिन उन्होंने कंस को मारा, उस दिन से उन्हें एक क्षण भी विश्राम करने को नहीं मिला। उन्हें नित्य नये शत्रुओं से सामना करना पड़ता है; पर इससे श्रीकृष्ण के उद्देश्य का ही रास्ता साफ होता जाता है।

पांडव चले गये; दुर्योधन युधिष्ठिर के सिंहासन पर बैठा। जब वन-वास और अज्ञात-वास समाप्त हुआ, तब पांडव प्रकट

हुए और अपना राज्य वापस माँगने लगे। वे कम से कम पाँच ग्राम चाहते थे; पर कौरवों ने नहीं माना। श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता की; पर कौरवों ने किसी की नहीं सुनी। तब युद्ध हुआ। उस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो गया। केवल दस आदमी बचे।

भारतीय युद्ध में क्षत्रियों का जो भयंकर संहार हुआ, उसी को बहुत से लोग भारत की वर्त्तमान अवनति का मूल समझते हैं। पर जिनकी ऐसी समझ है, उन्होंने श्रीकृष्ण-चरित्र के रहस्य को ही नहीं समझा है। जिस समय युद्ध आरंभ होने को था, उसी समय अर्जुन को यह शंका हुई थी कि इस युद्ध का परिणाम बुरा होगा, क्षत्रिय-कुल नष्ट हो जायगा, क्षत्राणियाँ व्यभिचारिणी होंगी और वर्ण-संकर फैलेगा, अधर्म का ही राज्य होगा, फिर धर्म कहाँ रह जायगा? इसी शंका का समाधान करने के लिए श्रीकृष्ण ने उस समय वह दिव्य उपदेश दिया है, जो आज भी धर्म की रक्षा कर रहा है। यदि युद्ध न होता, तो क्या होता? कौरवों का ही साम्राज्य होता। उस समय राजपुत्रों की बुरी दशा थी। धर्म की शोचनीय अवस्था थी। वास्तव में उस समय दुराचारी, लोभी और परापहारी ही राजसिंहासनों पर विराज रहे थे। युद्ध न होता तो इनका नाश न होता और अर्जुन को जिस बात की शंका हुई थी कि युद्ध से क्षत्रिय-कुल का नाश होकर अधर्म का राज्य होगा, वही बात उस समय

युद्ध के पहले से हो रही थी और यदि युद्ध न होता, तो वह बात इतनी बढ़ जाती कि धर्म का शायद नाम भी न रह जाता। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया कि बुद्धि-वाद छोड़कर केवल अपने धर्म का पालन करो, धर्म का पालन करने से अधर्म कदापि नहीं हो सकता। और वही बात हुई। अधर्म में रत क्षत्रिय-राजाओं का युद्ध में नाश हुआ और युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अजात-शत्रु और धर्मावतार का साम्राज्य समस्त देश में स्थापित हो गया। श्रीकृष्ण के जीवन का हमें यही उद्देश्य मालूम होता है।

मिसेज एनी बेसंट ने अपनी "अवतार" नामक अँगरेजी पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भारत का ज्ञानामृत सारे संसार को पिलाने के लिए और संसार तथा भारत का अविच्छिन्न संबंध स्थापित करने के लिए श्रीकृष्ण ने ऐसी परिस्थिति निर्माण की, जिससे भारत पर विदेशियों की चढ़ाइयाँ होने लगीं और अंत को भारत में उन लोगों का राज्य हुआ, जो आज यहाँ राज्य कर रहे हैं। इन बड़े-बड़े शब्दों के शृंगार से सजाकर मिसेज बेसंट ने यही सीधी-सादी बात कही है कि श्रीकृष्ण का अवतार इसलिए हुआ कि भारत में अँगरेजों का राज्य हो। परंतु यह कथन केवल "मुख-मस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी" वाली कहावत को ही चरितार्थ करता है। हाँ, इसमें चढ़ाइयों की जो बात लिखी है, वह बहुतों को भ्रम में डाल सकती है और बहुतेरों का

ऐसा खयाल हो सकता है कि उस भारतीय युद्ध का ही यह परिणाम हुआ कि इस देश पर विदेशीय सेनाएँ आक्रमण करने लगीं; परंतु यह खयाल बिलकुल गलत है। इसके विपरीत, यदि वह युद्ध न होता, तो उस समय के धर्म-भ्रष्ट राजपुत्र अपने दुराचार, लोभ, परापहार और अंतःकलह से देश को किस गड्ढे में ढकेल देते, उसकी कल्पना करना भी कठिन है। श्रीकृष्ण ने उन राजपुत्रों का ससैन्य संहार करके धर्म-राज्य की स्थापना की। उस धर्मराज्य का यह प्रभाव था कि सम्राट् युधिष्ठिर के पश्चात् परीक्षित ने कलि को बाँध रखा था, अर्थात् अधर्म से धर्म की रक्षा की थी। यदि श्रीकृष्ण ने भारतीय युद्ध कराकर धर्म-राज्य न स्थापित किया होता, तो भारत का दासत्व-काल आने में देर न लगती। उस युद्ध के बाद ढाई सहस्र वर्ष तक भारत में यवनों के पैर नहीं पड़ सके, यह उसी धर्म-राज्य का प्रताप था। यवनों की चढ़ाइयाँ आरंभ होने के बाद भी दो हजार वर्ष तक भारत के क्षत्रिय-कुल में अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की सामर्थ्य थी—चंद्रगुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि अनेक अलौकिक पुरुष बराबर अवतीर्ण होकर स्वदेश की रक्षा करते रहे। यह उसी धर्म-राज्य का प्रताप था, जो भारतीय युद्ध के बाद साढ़े चार सहस्र वर्ष तक दिग्दिगंत में भारत की कीर्ति-पताका फहराती रही और दूर-दूर देशों के लोग यहीं आकर धर्म की शिक्षा पाते रहे। भारत संसार का शिक्षा-

गुरु था। भारत में धर्म था, सत्य था, वीरता थी और ये सब बातें अलौकिक मात्रा में थीं। चीनी यात्री ये सब बातें अपने ग्रंथों में लिख गये हैं। "भारत में उस समय कोई झूठ नहीं बोलता था," यह पढ़कर आज आश्चर्य होता है; पर यह श्रीकृष्ण के उस धर्म-राज्य का ही प्रभाव था।

श्रीकृष्ण-चरित्र की यही केन्द्र-घटना है, जिसका यहाँ तक वर्णन हुआ। यही श्रीकृष्ण के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। अब यह देखिए कि किन साधनों को लेकर श्रीकृष्ण ने यह उद्देश्य सिद्ध किया। महान् उद्देश्य को लेकर जो महान् पुरुष संसार में अवतीर्ण होते हैं, उनमें वैसे ही महान् गुण भी होते हैं—उनका व्यक्तिगत चरित्र इतना उज्ज्वल और दिव्य होता है कि सारा संसार उनकी ओर खिंच जाता है। श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत चरित्र इतना पवित्र और अलौकिक था कि उनके समकालीन भीष्म जैसे महान् तपस्वी भी उन्हें साक्षात् ईश्वर का अवतार मानते थे और दुर्योधन जैसे दुष्टात्मा भी उन्हें निःस्पृह, सत्य-प्रतिज्ञ और परोपकारी महात्मा जानते थे। दुर्योधन श्रीकृष्ण से सहायता माँगने गया था, इससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

श्रीकृष्ण के ऐसे निष्कलंक चरित्र पर लोगों ने दो प्रकार के दोषों का आरोपण किया है। एक दोष तो कपटाचरण का है और दूसरा व्यभिचार का। परंतु ये दोनों ही आक्षेप निर्मूल हैं।

कपटाचरण का जो आक्षेप है, उसका एक आधार द्रोणाचार्य के वध की कथा है। श्रीकृष्ण ने ही अश्वत्थामा के मारे जाने की झूठी खबर उड़ाई और युधिष्ठिर से मिथ्या-भाषण कराया। रण-नीति या कूट-नीति के विचार से इसमें कोई निंदनीय बात नहीं हुई। पर इससे श्रीकृष्ण पर मिथ्याभाषी या कपटाचारी होने का दोष नहीं लग सकता, क्योंकि जिस अवस्था में अश्वत्थामा के मारे जाने की अफवाह उड़ाई गई थी, वह अवस्था ऐसी थी कि द्रोणाचार्य स्वयं धर्म-युद्ध के विरुद्ध उन लोगों पर अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे, जो अस्त्र चलाना नहीं जानते थे; और यह स्पष्ट दिखाई देता था कि यदि द्रोणाचार्य का वध न हुआ, तो सारी पांडव-सेना का संहार हो जायगा। सत्य-भाषण करना तो एक साधारण नियम है और सत्य ही धर्म का आधार है; पर इस नियम में श्रीकृष्ण ने पाँच अपवाद-स्थान माने हैं। इन पाँच अपवाद-स्थानों के अतिरिक्त और किसी स्थान में झूठ बोलना या कपटाचरण करना पाप है। इन पाँच स्थानों में झूठ बोलना धर्म चाहे न हो, पर पाप नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण पर मिथ्या-भाषण या कपटाचरण का आक्षेप नहीं किया जा सकता। यही नहीं, बल्कि श्रीकृष्ण आदर्श सत्यवादी थे और उनके सत्य के प्रताप से ही उत्तरा का मृत पुत्र फिर से जीवित हो उठा था। श्रीकृष्ण ने एक साधारण मनुष्य की शक्तियों से ही सब काम किये हैं, कहीं अमानुष और अननुभूत शक्ति का प्रयोग नहीं

किया। इसलिए उन्होंने अफवाह उड़ाकर द्रोण का वध कराया, पर उनके सत्य का इतना बल था कि उससे अभिमन्यु का बालक जी उठा। इतना लिखने के पश्चात् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रहती कि श्रीकृष्ण ने जो भीष्मजी को घिरवाकर मरवाया, उसमें भी श्रीकृष्ण ने कोई अनुचित कार्य नहीं किया, क्योंकि अर्जुन और भीष्म का वह द्वंद्व-युद्ध नहीं था, संहत-संग्राम हो रहा था और संहत-संग्राम में, जहाँ दोनों ओर की सेनाएँ एक दूसरे का केवल संहार कर रही थीं, वहाँ कहीं एक वीर ने चार वीरों को मारा तो क्या और चार वीरों ने मिलकर एक को मारा तो क्या; उससे धर्म-युद्ध के नियमों में बाधा नहीं पड़ती। यदि भीष्मजी को घेरकर चारों ओर से उन पर बाणों की वर्षा करना अनुचित होता, तो पांडवों की सात अक्षौहिणी सेना के साथ कौरवों का ग्यारह अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध करना और भी अनुचित होता। इसलिए संहत-युद्ध में ऐसी बातों का विचार नहीं किया जाता। शिखंडी को आगे करके पांडव इसी लिए लड़ रहे थे, क्योंकि उन्हें मालूम था कि शिखंडी पर भीष्म बाण नहीं छोड़ेंगे। पर संहत-युद्ध में इसे भी अनुचित नहीं कह सकते।

दूसरा आक्षेप व्यभिचार का है जो बिलकुल ही निराधार है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते, तो वे ऐसे बलिष्ठ न होते, जैसे कि थे। उनके मुखमंडल पर वह अलौकिक तेज

न होता, जो कि था। वे कंस की रंग-भूमि में उतरकर चाणूर का मर्दन न कर सकते—धर्म-राज्य की स्थापना तो बहुत दूर की बात है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते, तो रुक्मिणी-स्वयंवर के अवसर पर दंतवक्त्र ने उनके सदाचार की जो प्रशंसा की है, वह न की होती और जरासंध, रुक्मी, शिशुपाल आदि ने वह प्रशंसा चुपचाप न सुन ली होती। उसी प्रकार राजसूय-यज्ञ में जहाँ शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को दुनिया भर की गालियाँ सुनाई हैं, वहाँ तो वह श्रीकृष्ण को व्यभिचारी कहने से कभी न चूकता। कौरवों की सभा में द्रौपदी ने जब द्वारकावासी श्रीकृष्ण का नाम स्मरण किया है, तब उसने कृष्ण को 'महायोगिन्!' 'विश्वभावन!' आदि नामों से पुकारा है। श्रीकृष्ण व्यभिचारी होते, तो संकट-काल में द्रौपदी को उनका स्मरण न होता और उस स्मरण का कुछ फल भी न होता। इन बातों से यह स्पष्ट है कि यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। बात यह है कि श्रीकृष्ण अत्यंत सुंदर थे और श्रीमद्भागवतकार ने उनकी सुंदरता का वर्णन "स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्" कहकर किया है। संभव है, इसी "मूर्त्तिमान् कामदेव" की कुछ लीला वर्णन करने के लिए कवियों ने श्रीकृष्ण के काम-विलास की कल्पना कर ली हो। परंतु उस काम-विलास में भी यह खूबी है कि वर्णन तो शृंगार का है, पर अर्थ उसका वैराग्य है। उदाहरणार्थ, गोपियों का वस्त्र-ग्रहण। ये गोपियाँ जब अपने वस्त्र उतारकर यमुना में

नहाने को उतरीं, तब श्रीकृष्ण उन वस्त्रों को लेकर एक पेड़ पर जा बैठे। चित्रकारों ने इस घटना के जो चित्र बनाये हैं, वे बिलकुल अशुद्ध हैं। उन्होंने यह खयाल नहीं किया कि वे गोपियाँ युवती नहीं, बल्कि कुमारिकाएँ थीं। दूसरी बात यह कि यह कथा लिखने में श्रीमद्भागवतकार का कुछ और ही अभिप्राय है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, गोपियाँ जीवात्मा हैं; उनके वस्त्र उनके शरीर हैं और गोपियाँ शरीर छोड़कर भगवान् में लीन हो रही हैं। श्रीकृष्ण की शृंगारलीला में इसी प्रकार सर्वत्र वैराग्य अभिप्रेत है, पर इस गूढ़ रहस्य को न समझने से ही मूर्ख लोग निष्कलंक श्रीकृष्ण पर कलंक आरोपित करते हैं। यथार्थ में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का जो भाव था, वह अत्यंत पवित्र था।

श्रीकृष्ण का चरित्र अत्यंत पवित्र और निष्कलंक था। वे प्रेमी थे, रसिक थे और अपनी मधुर मुरली की तान से गोपों, गोपियों और गौओं को रिझाते थे। दीन-दुर्बलों की सहायता और दुष्टों का दमन करना तो उनका बचपन से ही स्वभाव था। खिलाड़ियों के साथ खेलना, हरि का गुण-गान करनेवालों के साथ भजन करना, दुष्टों के साथ लड़ना, सबसे प्रेम करना, ईश्वर-भक्तों को उपदेश देना, दीनों को दान देना, अतिथियों का सत्कार करना, प्रेमियों से प्रेम की बातें करना, यही सुमुख श्रीकृष्ण का नित्य का कार्यक्रम था। रंगमहल में उनकी जो मधुर मुसक्यान आनंद छा देती थी वही रण-

भूमि में भी दिखाई देती थी। श्रीकृष्ण सर्वत्र एकरस थे। दुःख में भी वे हँसते रहते थे। सुख और दुःख उनके लिए बराबर थे। नेपोलियन के विषय में कहा जाता है कि वे रण-भूमि में, संग्राम होते रहने की हालत में भी, तोप के पीछे लेट जाते और दो घंटे नींद ले लेते थे। नेपोलियन का जीवन ही युद्ध-जीवन था। युद्ध में ही सोना, युद्ध में ही खाना-पीना, युद्ध में ही सब काम करना—यही उनके जीवन का अभ्यास था। पर श्रीकृष्ण में नेपोलियन की तरह निश्चिंत होकर रण-भूमि में लेटने की ही केवल सामर्थ्य नहीं थी, प्रत्युत उनकी सामर्थ्य तो उससे भी अधिक अलौकिक थी। उनके चित्त में चंचलता का कोई चिह्न ही न था। नेपोलियन को नींद लेने के लिए लेटना पड़ता था, पर श्रीकृष्ण को उसकी भी जरूरत न थी। वे न तो कभी थकते थे और न उन्हें कभी विश्राम लेने की आवश्यकता पड़ती थी। वे अहर्निश सब कामों के सूत्र चलाते थे, पर चिंता या दुःख का कोई चिह्न उनके चेहरे पर नहीं दिखाई देता था। वे हँसते ही रहते थे। उस हँसी में बड़ी अद्भुत सामर्थ्य थी। घटोत्कच के मारे जाने पर पांडव-सेना में शोक छा गया, पर श्रीकृष्ण हँसते थे और उसी हँसी ने पांडवों का शोक भुला दिया। श्रीकृष्ण शूर थे, तेजस्वी थे, सुंदर थे, सब गुणों के आगार थे; पर सबसे बड़ी बात जो उनमें थी, वह यह थी कि अपनी प्रकृति को उन्होंने जान लिया था; प्रकृति के वे प्रभु थे। वे परम

ज्ञानी थे और इसी से लोग उन्हें ईश्वर या ईश्वर का अवतार मानते थे। उनके मुख से निकले हुए वचन को सब लोग ईश्वर का वचन समझते थे और उनके वचन से हो सब काम होता था। उनका वचन कभी मिथ्या न होगा, यह लोगों का दृढ़ विश्वास था, यद्यपि मदांध राजपुत्रों की आँखों पर परदा पड़ा हुआ था, और वे श्रीकृष्ण की योग-माया को नहीं समझ पाते थे। श्रीकृष्ण ने जो धर्म-राज्य स्थापित किया, वह अपने इसी दिव्य और अलौकिक चरित्र के बल पर स्थापित किया।

श्रीकृष्ण का चरित्र जैसा दिव्य था, उस काल की परिस्थिति भी उनके उस दिव्य चरित्र के लिए स्वभावतः ही अनुकूल थी। यह एक महान् ऐतिहासिक तत्त्व है कि जिन लोगों में जैसे महान् पुरुष अवतीर्ण होते हैं, वे लोग भी इतने योग्य होते हैं कि उन महान् विभूतियों का आदर कर सकें और उनमें पृथक् पृथक् वे सब गुण होते हैं, जिनका समुच्चय उन महान् विभूतियों में रहता है। श्रीरामचंद्र के समय में वानरों में भी भगवद्भक्ति का प्रचार था। गुरु गोविंदसिंह के समय में सभी सिक्ख वैसे ही वीर थे। श्रीशिवाजी के समय में मरहठों में भी वही धर्म-श्रद्धा और शूरता थी। इसी त्रिकालाबाधित नियम के अनुसार श्रीकृष्ण के समय में भी जनता में वे गुण मौजूद थे, जिनका आत्यंतिक उत्कर्ष समुच्चय-रूप से श्रीकृष्ण में हुआ था। श्रीकृष्ण के समय में ही श्रीकृष्ण द्वैपायन महर्षि वेदव्यास वर्तमान थे, जिनका लिखा हुआ ग्रंथ पंचम वेद माना

जाता है। श्रीकृष्ण के गुरु सांदीपनी ऋषि जैसे तपस्वी, वसुदेव जैसे त्यागी, सुदामा जैसे ब्राह्मण, उद्धव जैसे भगवद्भक्त, युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, भीम जैसे पराक्रमी, अर्जुन जैसे वीर और धार्मिक, भीष्म जैसे मृत्युंजय, गांधारी जैसी पतिव्रता स्त्रियाँ, गोप जैसे सरल और श्रद्धालु लोग उसी समय वर्तमान थे, पर हम ऊपर कह आये हैं कि यद्यपि ऐसे-ऐसे धार्मिक पुरुष मौजूद थे और जनता में धर्म-भाव भी था, तथापि राज्य-सूत्र जिनके हाथ में थे, वे धर्म के विरोधी थे और इसी का यह परिणाम हुआ था कि धार्मिक जनों का राजकाजी लोगों से बहुत ही कम संबंध रह गया था। यही नहीं, बल्कि धार्मिक लोग निवृत्ति-परायण हो रहे थे। निवृत्ति-परायणता धार्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है, पर उसमें यह दोष है कि जब धार्मिक लोग राजकाज से अलग हो जाते हैं, तब राजकाज का कोई सिरधरू न रहने से राजाओं और राजपुत्रों में प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठती है कि उनकी गति रोकी नहीं जा सकती और परिणाम यह होता है कि ऐसी धर्महीन राजनीति से प्रजा अत्यंत दुखित होती है। श्रीकृष्ण के समय में ऐसी ही अवस्था हुई थी और इसका प्रतिकार करने का बहुत कुछ प्रयत्न भी हो रहा था, जैसा कि वसुदेव के चरित्र से मालूम होता है। इन्हीं निवृत्ति-परायण लोगों को हाथ में लेकर श्रीकृष्ण ने प्रवृत्ति-परायण राजपुत्रों का संहार-साधन किया और धर्मराज्य की स्थापना की।

यह केवल एक महान् राज्य-क्रांति ही नहीं थी। फ्रांस की राज्य-क्रांति केवल राजकीय राज्यक्रांति थी, इँगलैंड की राज्य-क्रांति केवल आर्थिक राज्यक्रांति थी। फ्रांस की राज्यक्रांति से मिली हुई स्वाधीनता रक्त की नदियों के साथ बह गई, इँगलैंड की राज्य-क्रांति ने कोठीवालशाही का साम्राज्य स्थापित किया; पर श्रीकृष्ण ने जो राज्य-क्रांति की, उसने आध्यात्मिक क्रांति की और हिंदुस्तान को एक आदर्श राष्ट्र बना दिया।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि उस समय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी; स्त्रियों में पातिव्रत-धर्म पूर्णता के साथ वर्तमान था; पर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड़ी हुई थी और शूद्रों, वैश्यों तथा स्त्रियों के संबंध में लोगों का ऐसा ख़याल हो चला था कि इन्हें मोक्ष का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही उपनिषदों के गहन विचारों के प्रचार से धार्मिक पुरुषों के अंतःकरण पर यह दृढ़ संस्कार हो चुका था कि संसार से अलग होना ही मोक्ष का मार्ग है। श्रीकृष्ण ने जो धार्मिक क्रांति की, वह इन्हीं विचारों से की और वह क्रांति बड़ी ही जबर्दस्त थी। श्रीकृष्ण उन्हीं शूद्रों और वैश्यों में पले थे, जिनकी समाज में कोई प्रतिष्ठा न थी। श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना लिया और उनके सरल हृदयों में भक्ति-भाव का संचार कर दिया। वृंदावन-विहारी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए गोपों की स्त्रियाँ दौड़ी जाती थीं और श्रीकृष्ण उन्हें भगवद्भक्ति का

उपदेश देते थे। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था उन्होंने अपने अधिकार-युक्त उपदेश से फिर से बाँध दी और निवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके सांसारिक कर्तव्य और प्रवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके पारलौकिक कर्तव्य बतलाये। इस प्रकार सारे समाज को फिर से संगठित कर दिया। श्रीकृष्ण का सारा जीवन केवल संहार में ही नहीं बीता; नित्य नये शत्रुओं से सामना करना और उन्हें स्वर्ग का रास्ता दिखा देना, यह जिस प्रकार उनका नित्य कार्य-क्रम था, उसी प्रकार धर्म का प्रचार करना, जिज्ञासुओं को वेदांत के गूढ़ तत्त्व समझाना और भक्तों को उपदेशामृत से तृप्त करना भी उनका नित्य कार्य-क्रम था। उस समय उनके मुक़ाबिले का जिस प्रकार कोई शूर-वीर योद्धा नहीं था, उसी प्रकार कोई वैसा धर्म-वेत्ता और धर्मोपदेशक भी न था। श्रीकृष्ण धर्म-संस्थापक थे और उन्होंने धार्मिक क्रांति करके जिन धर्म-सिद्धांतों की स्थापना की है, उनका श्रीमद्भगवद्गीता में समावेश हुआ है। यह ग्रंथ अद्वितीय है और उस धार्मिक क्रांति का परिचायक है। आज भारत-वर्ष में सनातनधर्म के जो-जो संप्रदाय प्रचलित हैं, उनकी आधार-भूता प्रस्थान-त्रयी में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान है। श्रीकृष्ण की इस आध्यात्मिक क्रांति का प्रकाश हमें केवल साढ़े चार हजार वर्ष तक ही नहीं, बल्कि आज भी समस्त हिंदू-जगत् पर प्रखरता के साथ फैला हुआ दिखाई देता है और यह कहना व्यर्थ न होगा कि जब तक हिंदू-जाति जीती रहेगी,

तब तक श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश इसी प्रकार दीप्तिमान् रहेगा। प्रत्युत यह भी आशा की जा सकती है कि धीरे-धीरे श्रीकृष्ण का प्रकाश सारे संसार में फैलेगा, क्योंकि भगवद्‌गीता ग्रंथ ऐसा ही अलौकिक है। लोकमान्य तिलक का ज्ञानोत्तर कर्मवाद, पूज्यपाद शंकराचार्य का ज्ञानोत्तर कर्म-संन्यास और अद्वैत-वाद, उसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि सब मतों का आधार यही श्रीकृष्ण का उपदेश है और महात्मा गांधी का अहिंसावाद भी इसी उपदेश का परिणाम है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ने ही पहले-पहल स्त्रियों और शूद्रों के मोक्षाधिकार का विधान किया है और सबके लिए भक्ति-मार्ग का द्वार खोल दिया है। यों तो संसार में कोई वस्तु नई नहीं है, पर भक्ति-मार्ग के प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण ही हुए हैं और आज इस मार्ग का जितना अवलंबन होता है, उतना और किसी मार्ग का नहीं। यह मार्ग सबके लिए सुगम भी है। भगवद्‌गीता की यह एक विशेषता है। दूसरी विशेषता प्रवृत्ति और निवृत्ति का नियंत्रण है। भगवद्‌गीता यह नहीं बतलाती कि ईश्वर को भूलकर या ईश्वर के नाम पर संसार के सब सुख लूटते रहो और यह भी नहीं बतलाती कि संसार को छोड़कर जंगल में चले जाओ। गीता यह बतलाती है कि कर्म छोड़ने से नहीं छूटता, कर्म करना ही पड़ता है। कर्म-सातत्य का अबाधित नियम बतलाकर श्रीकृष्ण फल-त्याग-

पूर्वक कर्म करने का उपदेश देते हैं। निवृत्ति-परायण लोगों को इस प्रकार कर्म-मार्ग में प्रवृत्त करके श्रीकृष्ण ने समाज-रक्षा की व्यवस्था की। फलाशा छोड़कर कोई कैसे कर्म कर सकता है? इस शंका का श्रीकृष्ण ने पूर्ण समाधान किया है। फलाशा छोड़कर कर्म करो, फल तुम्हारे हाथ में नहीं है, कर्म को तुम अकेले नहीं करते—अधिष्ठान, कर्ता, करण, प्रकृति की विविध चेष्टा और दैव, इन सबके संयोग से कर्म होता है और इन सबकी योजना करनेवाला ईश्वर ही तुम्हें कर्म में नियोजित करता है। इसलिए इसी परमेश्वर की आज्ञा का केवल पालन करना तुम्हारा धर्म है। इसलिए ईश्वर को सब फल अर्पण कर दो। इसी प्रकार की ईश्वरार्पण-बुद्धि से भक्ति-पूर्वक कर्मयोग का अवलंबन करना ही श्रीमद्भगवद्गीता का सिद्धांत है और इस सिद्धांत को श्रीकृष्ण ने अपने आचरण और उपदेश से स्थापित किया है। किसी शास्त्र का, किसी मत का, उन्होंने विरोध नहीं किया। उन्होंने सब मतों को अपना लिया और यह मत स्थापित किया कि चाहे कोई किसी मार्ग से क्यों न जाय, पर सब ईश्वर की ओर ही जा रहे हैं। इस उपदेश में बाइबल या कुरान की अपेक्षा कितनी अधिक उदारता है! वास्तव में श्रीकृष्ण सारे संसार के सुख के लिए ही ऐसी व्यवस्था बाँध गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में संसार के सब आध्यात्मिक सिद्धांतों का विचार हुआ है और भक्ति-पूर्वक ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करने

का सिद्धांत ही सर्व-श्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य के मोक्ष का इतना सुलभ, स्वतंत्र और श्रेष्ठ सिद्धांत श्रीकृष्ण ने ही स्थापित किया और धीरे-धीरे संसार इसी सिद्धांत की ओर झुक रहा है।

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन भर में इस प्रकार धर्म-राज्य स्थापित कर एक नवीन युग प्रवर्तित कर दिया। उन्होंने यह लीला कलियुग के आरंभ में की थी। मानों इस कलिकाल में होनेवाले दुराचारों का दृश्य दिखाकर उन्होंने यह भी बतला दिया कि ईश्वर इस प्रकार उन दुराचारों का नाश करके सदाचार स्थापित करेंगे और अधर्म का नाश करके धर्म की रक्षा करेंगे। श्रीकृष्ण-चरित्र कलियुग में ईश्वर की लीला का वर्णन है। कलिकाल में अनेक अत्याचार और दुराचार होंगे, दुष्टों का प्रभुत्व होगा और धर्म-परायण पुरुषों को बहुत कष्ट होगा। इसलिए बार-बार ईश्वर को अवतार लेने पड़ेंगे। इसी लिए श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिज्ञा की है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है, तब-तब मैं आता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश कर धर्म स्थापित करने के लिए मैं हर युग में अवतार लेता हूँ।

तो क्या श्रीकृष्ण ईश्वर थे ? हाँ, उनका चरित्र पाठ करने से यही मालूम होता है कि वे ईश्वर के पूर्णावतार थे। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ईश्वर वास करते हैं; पर श्रीकृष्ण के शरीर द्वारा वे अपनी सोलहों कलाओं से प्रकाशमान हुए थे।

श्रीकृष्ण एक शरीर धारण किये हुए थे, पर उस शरीर की उन्हें सुध नहीं थी, उनकी आत्मा सारे विश्व में व्याप्त थी। इसी लिए उनका नाम विश्वात्मा है और उनका स्थान भक्तों का हृदय है।

—लक्ष्मण नारायण गर्दे

---

(१८) तुलसीदास का महत्व

हम्मीर के समय से चारणों का वीरगाथा-काल समाप्त होते ही हिंदी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्ति-पथ और प्रेम-पथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान-साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिए वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया; देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य-काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानंद और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतबन, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबंध-रचना-द्वारा प्रेम-पथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन लोक-धर्माश्रित स्वरूप को लेकर चला था; अर्थात् प्राचीन भागवत-संप्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था और दूसरा लोकधर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करनेवाला है। इससे उन्हें भारतीय भक्ति-मार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परंपरावाले भक्त वेद-शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों-द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोक-धर्म-रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है; इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस-से सींचकर मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को फिर से हरा किया।

पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिंदू जाति की नैराश्य-जनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदासजी ने भगवान् का लोक-व्यापार-व्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिंदू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिंदू जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया, उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी अभिव्यंजना करनेवाली वाणी का विकास भी स्वाभाविक था। अतः सूर और तुलसी के समय हिंदी-कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की कद्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की कद्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि-काल के कारण हैं सूर-तुलसी, और सूर-तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास, जिसके अवलंबन थे राम और कृष्ण। लोक-मानस के समक्ष राम और कृष्ण जब से फिर से स्पष्ट करके रखे गये, तभी से वह उनके एक एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में लग गया, यहाँ तक कि सूरदास तक आते आते भगवान् की लोकरंजन-कारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई। अंत में उनकी अखिल जीवनवृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करने-वाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।

इस दिव्य वाणी का यह मंजु घोष घर-घर क्या, एक-एक हिंदू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिंदू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सबसे दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता। ईश्वर बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है; और लोक-धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है; इस भावना का—अँगरेजी नाम-करण हो जाने पर भी, सभ्यता के आधुनिक इतिहासों में विशेष स्थान स्थिर हो जाने पर भी—हिंदू-हृदय से बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन-दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह "रावणत्व" की सीमा पर पहुँचेगा और "रामत्व" का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की

प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सबके हृदय और कंठ में सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है---संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनंदोत्सव में, जहाँ देखिए वहाँ राम। गोस्वामीजी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू-जीवन को राम-मय कर दिया। गोस्वामीजी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिंदू-जनता अवसर के अनुसार सौन्दर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है और मानव-जीवन के महत्व का अनुभव करती है।

—रामचंद्र शुक्ल